

जिनेन्द्र अर्चना

सम्पादक :

डॉ. अखिल जैन 'बंसल'

एम.ए. (हिन्दी), पीएचडी, डिप्लोमा-पत्रकारिता

प्रकाशक

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट
ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२ ०१५
फोन : ०१४१-२७०७४५८, २७०५५८१

E-mail : ptstjaipur@yahoo.com

जिनेन्द्र अर्चना : डॉ. अखिल जैन 'बंसल'

प्रथम बावन संस्करण : 2 लाख 33 हजार

(6 अक्टूबर 1981 से अद्यतन)

तिरेपनवाँ संस्करण : 3 हजार

(4 मई 2022)

अक्षय तृतीया

योग : 2 लाख 36 हजार

मूल्य : पचास रुपए

ISBN No.

978-93-91136-37-6

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करने वाले दातारों की सूची

1. श्री महेश जे. पारेख, मुम्बई	11000.00
2. श्री रमेश कुमार जैन, दिल्ली	3100.00
3. श्री निर्मलकुमार स्वर्णलता जैन, भागलपुर	2200.00
4. श्री सचित विशाखा जैन, कोटा	1100.00
5. अदिती जैन, बड़ौत	1100.00
6. श्री प्रखर जैन, जबलपुर	1000.00
कुल राशि - <u>19,500.00</u>	

सभी सहयोगियों को आभार!

मुद्रक :

देशना कम्प्यूटर

जयपुर (राज.)

प्रकाशकीय

(तिरेपनवाँ पुनर्सम्पादित संस्करण)

देवाधिदेव जिनेन्द्र भगवान की अर्चना में समर्पित सर्वाधिक बिक्रीवाली कृति ‘जिनेन्द्र अर्चना’ को नये परिवेश में प्रस्तुत करते हुए हम अत्यधिक गौरव एवं प्रसन्नता का अनुभव कर रहे हैं।

जिनेन्द्र पूजन गृहस्थ/श्रावक के षट् आवश्यक कर्तव्यों में सर्वप्रथम कर्तव्य है। पापों से बचने हेतु तथा वीतराग भाव के पोषण हेतु यही एकमात्र आलम्बन है, अतः समाज में हजारों वर्षों से भाव एवं द्रव्यपूजन की परम्परा चली आ रही है।

आद्य-स्तुतिकार आचार्य समन्तभद्र ने स्वयंभू-स्तोत्र जैसी अमर कृतियों में जैन न्याय सिद्धान्तों का उल्लेख करते हुए उत्कृष्टतम स्तुतियों की रचना की है। अनेक प्राचीन एवं अर्वाचीन कवियों ने भी अपनी काव्यप्रतिभा से विभिन्न प्रकार की पूजाएँ रचकर पूजन साहित्य को समृद्ध किया है, जिनमें पण्डित द्यानतराय एवं पण्डित बृन्दावनदासजी विशेष उल्लेखनीय हैं।

मुद्रण प्रणाली के विकास ने पूजन संग्रहों के प्रकाशनों को सुलभ अवसर प्रदान किये हैं; अतः समाज में सैकड़ों पूजन संग्रह उपलब्ध हैं। इस संकलन का प्रथम संस्करण ६ अक्टूबर १९८१ को प्रकाशित किया गया था। तब से अबतक इसके इक्यावन संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं, जो इसकी उपयोगिता एवं लोकप्रियता का प्रबल प्रमाण हैं। समाज ने अपनी जिनेन्द्र भक्ति की अभिव्यक्ति और पुष्टि में इस संकलन का भरपूर उपयोग करके हमें प्रोत्साहित किया है, अतः हम उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हैं।

हमारे अनेक सुधी पाठकों द्वारा इसके संबंध में समय-समय पर अनेक सुझाव प्राप्त होते रहे हैं, जिन्हें ध्यान में रखते हुए आवश्यक संशोधन कर दिये गये हैं तथा आवश्यक सामग्री जोड़कर इसे और भी अधिक उपयोगी बना दिया गया है।

डॉ. अखिल जैन 'बंसल' इस कृति के आद्य सम्पादक हैं। कृति के नवीन संस्करण के परिमार्जन तथा इसे आकर्षक कलेवर में प्रस्तुत करने में उनका विशेष योगदान रहा है; अतः हम उनके आभारी हैं।

तत्त्वार्थसूत्र, भक्तामर एवं जिनेन्द्र वन्दना के समावेश से यह संकलन विशेष उपयोगी तो था ही, बाबू जुगलकिशोरजी 'युगल' कृत नीरव निर्झर तथा सिद्ध पूजन और श्री राजमलजी पवैया कृत प्रमुख पर्व पूजनों को सम्मिलित किये जाने से कृति की उपयोगिता और भी अधिक बढ़ गई है। डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल कृत प्रक्षाल पाठ, विनय पाठ, स्वस्ति मंगल पाठ, चौबीस तीर्थकर पूजन, भरत-बाहुबली पूजन तथा शांतिपाठ को भी इस संस्करण में समाहित किया गया है। डॉ. अखिल बंसल द्वारा रचित पूजनें व भक्तामर काव्य कलश भी जोड़ा गया है। पण्डित रत्नचन्दजी भारिल्ल कृत जिनपूजन रहस्य तो इसमें विगत अनेक संस्करणों से था ही इसमें भक्ति खण्ड को भी पुनर्सम्पादित किया गया है। प्रत्येक पूजन को नये पृष्ठ से आरम्भ करने का प्रयास किया गया है तथा खाली स्थानों में महत्वपूर्ण भक्तियाँ दी गई हैं। भक्तियों को वर्गीकृत करके उनकी सूची भी अलग से दी गई है, अतः उनका उपयोग जिनेन्द्र भक्ति में सरलतापूर्वक किया जा सकता है।

यद्यपि पूजनों, स्तवनों एवं जिनवाणी संग्रह की समाज में कमी नहीं है, फिर भी इस संकलन की अपनी एक अलग विशेषता है। यही कारण है कि समाज की प्रबल माँग निरन्तर बनी रहती है और इसकी पूर्ति में हमें लगभग हर वर्ष ही इसे प्रकाशित करना पड़ता है। अबतक यह कृति २ लाख ३३ हजार की संख्या में जन-जन तक पहुँच चुकी है तथा ३ हजार का यह संस्करण आपके समक्ष प्रस्तुत है जो इसकी लोकप्रियता को दर्शाती है। इस कृति को और अधिक उपयोगी बनाने हेतु आपके सुझाव सादर आमंत्रित हैं। इस कृति की सुन्दर टाईप सैटिंग के लिए श्री कमल शर्मा का आभार।

आशा है, प्रस्तुत तिरेपनवाँ संस्करण पाठकों को अधिकतम सन्तुष्ट करते हुए उनकी साधना में विशेष उपयोगी सिद्ध होगा।

परमात्मप्रकाश भाल्ल
कार्यकारी महामंत्री

विषय-सूची

(स्तवन खण्ड)

विषय

१. जिनपूजन रहस्य
२. जिनेन्द्र वंदना
३. दर्शन पाठ
४. देवस्तुति (प्रभु पतितपावन...)
५. दर्शनस्तुति (अतिपुण्य उदय...)
६. दर्शन स्तुति (सकलज्ञेय...)
७. दर्शन पाठ (दर्शन श्री देवाधिदेव का...)
८. आराधना पाठ (मैं देव नित...)
९. देव स्तुति (बीतराग सर्वज्ञ हितंकर...)

(पूजन खण्ड)

लेखक

	पृष्ठ संख्या
पं. रतनचंद भारिल्ल	९
डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल	४७
-	५१
श्री बुधजन	५२
श्री अमरचन्दजी	५३
पं. दौलतरामजी	५४
श्री युगलजी	५६
पं. द्यानतराय	५७
-	५८

१०. जलाभिषेक पाठ

११. प्रक्षाल पाठ
१२. प्रतिमा प्रक्षाल पाठ
१३. विनयपाठ
१४. विनय पाठ
१५. पूजा पीठिका (संस्कृत)
१६. पूजा पीठिका (हिन्दी)
१७. स्वस्ति मंगल पाठ
१८. देव-शास्त्र-गुरु पूजन
१९. देव-शास्त्र-गुरु पूजन
२०. देव-शास्त्र-गुरु पूजन
२१. देव-शास्त्र-गुरु पूजन
२२. समुच्चय पूजन
२३. पंच परमेष्ठी पूजन
२४. सिद्धपूजन
२५. सिद्धपूजन
२६. सिद्धपूजन

२७. विदेहक्षेत्र स्थित विद्यमान बीस तीर्थकर पूजन
२८. चौबीस तीर्थकर पूजन
२९. श्री वर्तमान चौबीसी पूजन
३०. सीमन्धर पूजन
३१. दशलक्षण धर्म पूजन
३२. सम्यक्रत्नत्रय धर्म पूजन
३३. सोलहकारण पूजन
३४. पंचमेरु पूजन

श्री हरजसरायजी	५९
डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल	६२
पं. अभ्यकुमारजी	६४
डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल	६७
-	६९
-	७१
डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल	७४
डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल	७७
पण्डित द्यानतरायजी	७९
श्री युगलजी	८३
डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल	८७
डॉ. अखिल बंसल	९१
ब्र. सरदारमलजी	९४
श्री राजमलजी पवैया	९७
आचार्य पद्मनन्दि	१००
डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल	१०५
श्री युगलजी	१०९
पण्डित द्यानतरायजी	११३
डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल	११६
कविवर वृन्दावनदासजी	१२१
डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल	१२४
पण्डित द्यानतरायजी	१२८
पण्डित द्यानतरायजी	१३४
पण्डित द्यानतरायजी	१४२
पण्डित द्यानतरायजी	१४५

३५.	नन्दीश्वरद्वीप पूजन	पण्डित द्यानतरायजी	१४८
३६.	श्री आदिनाथ जिनपूजन	पण्डित जिनेश्वरदासजी	१५२
३७.	श्री आदिनाथ जिनपूजन	डॉ. अखिल बंसल	१५६
३८.	श्री चन्द्रप्रभ जिनपूजन	पण्डित वृन्दावनदासजी	१५९
३९.	चैतन्य वन्दना	पं. अभयकुमारजी	१६३
४०.	श्री शान्तिनाथ जिनपूजन	पण्डित वृन्दावनदासजी	१६४
४१.	श्री शान्तिनाथ पूजन	डॉ. अखिल बंसल	१६८
४२.	श्री पार्श्वनाथ जिनपूजन	पण्डित बख्तावरमलजी	१७२
४३.	श्री पार्श्वनाथ जिनपूजन	डॉ. अखिल बंसल	१७७
४४.	श्री वर्धमान जिनपूजन	पण्डित वृन्दावनदासजी	१८१
४५.	श्री महावीर पूजन	डॉ. हुक्मचन्द भारिल्ल	१८५
४६.	श्री महावीर पूजन	डॉ. अखिल बंसल	१८९
४७.	श्री पंच बालयति जिनपूजन	पं. अभयकुमारजी	१९२
४८.	श्री भरत-बाहुबली पूजन	डॉ. हुक्मचन्द भारिल्ल	१९६
४९.	श्री बाहुबली पूजन	श्री राजमल पवैया	२०१
५०.	श्री सप्तऋषि पूजन	पण्डित रंगलालजी	२०५
५१.	सरस्वती पूजन	पण्डित द्यानतरायजी	२०८
५२.	अक्षय तृतीया पर्व पूजन	श्री राजमलजी पवैया	२११
५३.	रक्षाबन्धन पर्व पूजन	श्री राजमलजी पवैया	२१५
५४.	वीरशासन जयन्ती पर्व पूजन	श्री राजमलजी पवैया	२२०
५५.	क्षमावाणी पूजन	श्री राजमलजी पवैया	२२४
५६.	दीपमालिका पर्व पूजन	श्री राजमलजी पवैया	२३०
५७.	श्रुतपंचमी पर्व पूजन	श्री राजमलजी पवैया	२३५
५८.	निर्वाणक्षेत्र पूजन	पण्डित द्यानतरायजी	२३९
५९.	निर्वाण काण्ड भाषा	भैया भगवतीदासजी	२४२
६०.	स्वयंभू-स्तोत्र (भाषा)	श्री द्यानतरायजी	२४४
६१.	चौबीस तीर्थकरों के अर्च्य	-	२४६
६२.	कृत्रिम-अकृत्रिम चैत्यालयों के अर्च्य	-	२५२
६३.	अर्ध्यावलि	-	२५४
६४.	शान्ति पाठ (संस्कृत)	-	२६१
६५.	शान्ति पाठ (भाषा)	-	२६३
६६.	शान्ति पाठ (लघु)	-	२६५
६७.	शान्ति पाठ	डॉ. हुक्मचन्द भारिल्ल	२६६

(आध्यात्मिक पाठ एवं भावना खण्ड)

६८.	नीरव निर्झर (सामायिक पाठ)	श्री युगलजी	२६८
६९.	अमूल्य तत्त्व विचार	अनुवाद - श्री युगलजी	२७१
७०.	आलोचना पाठ	श्री जौहरीलालजी	२७२
७१.	मेरी भावना	श्री ज़गलकिशोरजी मुख्तार	२७५

७२.	वैराग्य भावना (वक्रनाभ चक्रवर्ती)	अनु. पण्डित भूधरदासजी	२७७
७३.	छहढाला	पण्डित दौलतरामजी	२८०
७४.	भक्तामर-स्तोत्र	आचार्य मानतुंग	२९२
७५.	भक्तामर-स्तोत्र (हिन्दी)	पण्डित हेमराजजी	२९९
७६.	भक्तामर : काव्य कलश	डॉ. अखिल बंसल	३०६
७७.	महावीराष्ट्र स्तोत्र	कविवर भागचन्द	३१६
७८.	मंगलाष्टक	-	३१७
७९.	समाधिमरण (हिन्दी)	पण्डित सूरचन्दजी	३१९
८०.	बारह भावना	पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा	३२८
८१.	बारह भावना	पण्डित भूधरदासजी	३२९
८२.	तत्त्वार्थ सूत्र	आचार्य उमास्वामी	३३०

(भक्ति खण्ड)

देव भक्ति

८३.	एक तुम्हीं आधार हो जग में...	सौभाग्यमलजी	३४२
८४.	तिहारे ध्यान की मूरत...	-	३४२
८५.	मेरे मन मन्दिर में आन...	-	३४३
८६.	निरखो अंग-अंग जिनवर...	-	३४३
८७.	आओ जिन मन्दिर में आओ...	-	३४४
८८.	धन्य धन्य आज घड़ी कैसी सुखकार है...	सौभाग्यमलजी	३४५
८९.	वीर प्रभु के ये बोल तेरा प्रभु...	-	३४५

शास्त्र भक्ति

९०.	हे जिनवाणी माता तुमको लाखों...	शिवरामजी	३४६
९१.	जिनवर चरण भक्ति वर गंगा...	मानिकचंदजी	३४७
९२.	जिनवाणी माता रत्नत्रय...	जयकुमारजी	३४७
९३.	जिन-वैन सुनत मोरी भूल...	पं. दौलतरामजी	३४८
९४.	जिनवाणी माता दर्शन की...	-	३४८
९५.	महिमा है अगम जिनागम की...	पं. भागचंदजी	३४८
९६.	चरणों में आ पड़ा...	सुदर्शनजी	३४८
९७.	नित पीज्यो धीधारी...	पं. दौलतरामजी	३४९
९८.	साँची तो गंगा यह...	पं. भागचन्दजी	३४९
९९.	धन्य धन्य है घड़ी आज की...	पं. भागचन्दजी	३५०
१००.	केवलि-कन्ये...	ज्ञानानन्दजी	३५०
१०१.	धन्य-धन्य जिनवाणी माता...	-	३५१
१०२.	धन्य-धन्य वीतराग वाणी...	-	३५२
१०३.	सुनकर वाणी जिनवर की म्हारे...	पं. बुधजन	३५२
१०४.	मुख ओंकार धुनि...	पं. बनारसीदास	३५२
१०५.	ब्रात जिनवाणी सम नहिं आन...	नन्दलालजी	३५३

गुरु भक्ति

१०७.	ऐसे साधु सुगुरु कब मिलि हैं...	पं. भागचन्दजी	३५४
१०८.	धन-धन जैनी साधु जगत के...	पं. भागचन्दजी	३५४
१०९.	परम गुरु बरसत ज्ञान झरी...	पं. द्यानतरायजी	३५४
११०.	वे मुनिवर कब मिलि हैं...	पं. भूधरदासजी	३५५
१११.	ऐसे मुनिवर देखे वन में...	-	३५५
११२.	परम दिगम्बर मुनिवर...	-	३५५
११३.	संत साधु बन के विचर्णँ...	-	३५६
११४.	धन्य मुनीश्वर आतम हित में...	-	३५६
११५.	म्हारा परम दिगम्बर मुनिवर आया...	सौभाग्यमलजी	३५७
११६.	मैं परम दिगम्बर साधु के...	सौभाग्यमलजी	३५८
११७.	नित उठ ध्याऊँ, गुण गाऊँ...	सौभाग्यमलजी	३५८
११८.	हे परम दिगम्बर यति महागुण...	सौभाग्यमलजी	३५९
११९.	है परम दिगम्बर मुद्रा जिनकी...	पं. अभयकुमारजी	३५९
१२०.	होली खेलें मुनिराज शिखर वन में...	पं. भूधरदासजी	३६०

विविध

१२१.	अब प्रभु चरण छोड़ कित जाऊँ...	-	८२
१२२.	प्रभु पै यह वरदान सुपाऊँ...	पं. भागचन्दजी	९०
१२३.	अशरीरी सिद्ध भगवान...	-	१०८
१२४.	मैं महापुण्य उदय से...	-	११५
१२५.	करलो जिनवर का गुणगान...	-	१२३
१२६.	देखो जी आदीश्वर स्वामी...	पं. दौलतरामजी	१३३
१२७.	श्री अरिहन्त छवि लखि...	जिनेश्वरदासजी	१४१
१२८.	रोम-रोम पुलकित हो जाय...	-	१५१
१२९.	चैतन्य वन्दना	-	१६३
१३०.	आज हम जिनराज...	पंकजजी	१७१
१३१.	चाह मुझे है दर्शन की...	--	१७६
१३२.	जिन प्रतिमा जिनवर-सी कहिए...	भैया भगवतीदासजी	१८८
१३३.	चरखा चलता नाहीं...	पं. भूधरदासजी	१९५
१३४.	निरखत जिन चन्द्र-वदन...	पं. दौलतरामजी	२१४
१३५.	वन्दों अद्भुत चन्द्रवीर जिन...	पं. दौलतरामजी	२२९
१३६.	हे जिन तेरो सुजस उजागर...	पं. दौलतरामजी	२४१
१३७.	दरबार तुम्हारा मनहर है...	बृद्धिचंदजी	२५२
१३८.	नाथ तुम्हारी पूजा में सब...	-	२६४
१३९.	दया दान पूजा शील...	-	३०५
१४०.	ऐसै जिनराज ताहि वंदत बनारसी	पं. बनारसीदासजी	३१५
१४१.	श्री सिद्धचक्र माहात्म्य...	पं. रतनचन्दजी	३२७
१४२.	हमको भी बुलवालो स्वामी सिद्धों...	-	३४१

जिनपूजन रहस्य

● पण्डित रत्नचन्द्र भारिल्ल

देवपूजा : क्या/क्यों/कैसे ?

“देवपूजा गुरुपास्ति स्वाध्यायः संयमस्तपः ।

दानं चेति गृहस्थानं षट्कर्माणि दिने-दिने ॥ १ ॥

देवपूजा, गुरु-उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान - ये छह आवश्यक कार्य गृहस्थों को प्रतिदिन करना चाहिए ।”

यह पावन आदेश आचार्य पद्मनन्दि का है। इसमें देवपूजा को प्रथम स्थान प्राप्त है।

वह देव पूजा क्या है? कितने प्रकार की है? किस देव की की जाती है? क्यों की जाती है? कैसे की जाती है? पूजन का वास्तविक प्रयोजन क्या है? और मोक्षमार्ग में इसका क्या स्थान है? आदि बातें सभी धर्मप्रेमी बन्धुओं को जानने योग्य हैं।

पूजन शब्द का अर्थ आज बहुत ही संकुचित हो गया है। पूजन को आज एक क्रिया विशेष से जोड़ दिया गया है; जबकि पूजन में पंच परमेष्ठी की वंदना, नमस्कार, स्तुति, भक्ति तथा जिनवाणी की सेवा व प्रचार-प्रसार करना, जैनधर्म की प्रभावना करना, जिनमन्दिर एवं जिनप्रतिमा का निर्माण करना-कराना आदि अनेक कार्य सम्मिलित हैं।

जिनमार्ग में सच्ची श्रद्धा ही वास्तविक जिनपूजन है।

भक्ति और पूजा का स्वरूप दर्शाते हुए आचार्य अपराजित लिखते हैं -

“का भक्ति पूजा? अर्हदादि गुणानुरागो भक्तिः । पूजा द्विप्रकारा-
द्रव्यपूजा भावपूजा चेति । गन्धपुष्पधूपाक्षतादिदानं अर्हदाद्युद्दिश्य द्रव्यपूजा,

अभ्युत्थान – प्रदक्षिणीकरणप्रणमनादिका कायक्रिया च वाचा गुणसंस्तवनं

च । भावपूजा मनसा तदगुणानुस्मरणम् ॥”^१

प्रश्न – भक्ति और पूजा किसे कहते हैं ?

उत्तर – अरहन्त आदि के गुणों में अनुराग भक्ति है । पूजा के दो प्रकार हैं – द्रव्यपूजा और भावपूजा ।

अरहन्त आदि का उद्देश्य करके गंध, पुष्प, धूप, अक्षतादि अर्पित करना द्रव्यपूजा है तथा उनके आदर में खड़े होना, प्रदक्षिणा करना, प्रणाम करना आदि शारीरिक क्रिया और वचन से गुणों का स्तवन भी द्रव्यपूजा है तथा मन से उनके गुणों का स्मरण भावपूजा है ।”

द्रव्यपूजा व भावपूजा के सम्बन्ध में पं. सदासुखदासजी लिखते हैं :-

“अरहन्त के प्रतिबिम्ब का वचन द्वार से स्तवन करना, नमस्कार करना, तीन प्रदक्षिणा देना, अंजुलि मस्तक चढ़ाना, जल-चन्दनादिक अष्टद्रव्य चढ़ाना ; सो द्रव्यपूजा है ।

अरहन्त के गुणों में एकाग्रचित्त होकर, अन्य समस्त विकल्प छोड़कर गुणों में अनुरागी होना तथा अरहन्त के प्रतिबिम्ब का ध्यान करना ; सो भावपूजा है ।”^२

उक्त कथन में एक बात अत्यन्त स्पष्ट रूप से कही गई है कि – अष्टद्रव्य से की गई पूजन तो द्रव्यपूजन है ही, साथ ही देव-शास्त्र-गुरु की वन्दना करना, नमस्कार करना, प्रदक्षिणा देना, स्तुति करना आदि क्रियायें भी द्रव्यपूजन हैं ।

जिनेन्द्र भगवान की पूजन भगवान को प्रसन्न करने के लिए नहीं, अपने चित्त की प्रसन्नता के लिए की जाती है; क्योंकि जिनेन्द्र भगवान तो वीतरागी होने से किसी से प्रसन्न या नाराज होते ही नहीं हैं । हाँ, उनके गुणस्मरण से हमारा मन अवश्य पवित्र हो जाता है ।

इस सन्दर्भ में आचार्य समन्तभद्र का निम्न कथन द्रष्टव्य है-

१. भगवती आराधना, गाथा ४६ की विजयोदया टीका ।

२. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक ११९ की टीका, पृष्ठ २०८ ।

‘न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे, न निन्दया नाथ! विवान्त वैरे।

तथापि ते पुण्य गुणस्मृतिर्नः, पुनाति चित्तं दुरिताज्जनेभ्यः ॥१॥

यद्यपि जिनेन्द्र भगवान वीतराग हैं, अतः उन्हें अपनी पूजा से कोई प्रयोजन नहीं है तथा वैर रहित हैं, अतः निन्दा से भी उन्हें कोई प्रयोजन नहीं है; तथापि उनके पवित्र गुणों का स्मरण पापियों के पापरूप मल से मलिन मन को निर्मल कर देता है।”

कुछ लोग कहते हैं कि – यद्यपि भगवान कुछ देते नहीं हैं, तथापि उनकी भक्ति से कुछ न कुछ मिलता अवश्य है। इसप्रकार वे जिनपूजा को प्रकारान्तर से भोगसामग्री की प्राप्ति से जोड़ देते हैं; किन्तु उक्त छन्द में तो अत्यन्त स्पष्ट रूप से कहा गया है कि – उनकी भक्ति से भक्त का मन निर्मल हो जाता है। मन का निर्मल हो जाना ही जिनपूजा-जिनभक्ति का सच्चा फल है। ज्ञानीजन तो अशुभभाव व तीव्रराग से बचने के लिए ही भक्ति करते हैं।

इस सन्दर्भ में आचार्य अमृतचन्द्र की निमांकित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं-

“अयं हि स्थूललक्ष्यतया केवलभक्तिप्रधानस्याज्ञानिनो भवति । उपरितन-भूमिकायामलब्धास्पदस्यास्थानरागनिषेधार्थं तीव्ररागज्वर-विनोदार्थं वा कदाचिज्ञानिनोऽपि भवतीति ।

इसप्रकार का राग मुख्यरूप से मात्र भक्ति की प्रधानता और स्थूल लक्ष्यवाले अज्ञानियों को होता है। उच्चभूमिका में स्थिति न हो तो तब तक अस्थान का राग रोकने अथवा तीव्ररागज्वर मिटाने के हेतु से कदाचित् ज्ञानियों को भी होता है।”^२

उक्त दोनों कथनों पर ध्यान देने से यह बात स्पष्ट होती है कि आचार्य अमृतचन्द्र तो कुस्थान में राग के निषेध और तीव्ररागज्वर निवारण की बात कहकर नास्ति से बात करते हैं और उसी बात को आचार्य समन्तभद्र चित्त की निर्मलता की बात कहकर अस्ति से कथन करते हैं।

१. स्वयंभू स्तोत्र, छन्द ५७।

२. पंचास्तिकाय, गाथा १३६ की टीका।

इसप्रकार पूजन एवं भक्ति का भाव मुख्यरूप से अशुभराग व तीव्रराग से बचाकर शुभराग व मंदरागरूप निर्मलता प्रदान करता है।

यद्यपि यह बात सत्य है कि भक्ति और पूजन का भाव मुख्यरूप से शुभभाव है, तथापि ज्ञानी धर्मात्मा मात्र शुभ की प्राप्ति के लिए पूजन-भक्ति नहीं करता, वह तो जिनेन्द्र की मूर्ति के माध्यम से मूर्तिमान जिनेन्द्र देव को एवं जिनेन्द्र देव के माध्यम से निज परमात्मस्वभाव को जानकर, पहिचान कर, उसी में रम जाना, जम जाना चाहता है।

तिलोयपण्णती आदि ग्रन्थों में सम्यक्त्वोत्पत्ति के कारणों में जिनबिम्ब दर्शन को भी एक कारण बताया है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि जिनपूजा अशुभभाव से बचने के साथ-साथ सम्यक्त्वोत्पत्ति, भेदविज्ञान, आत्मानुभूति एवं वीतरागता की वृद्धि में भी निमित्तभूत है। स्तुतियों और भजनों की निम्न पंक्तियों से यह बात स्पष्ट है-

‘तुम गुण चिन्तत निज-पर विवेक प्रकटै, विघटें आपद अनेक।

×

×

×

जय परम शान्त मुद्रा समेत, भविजन को निज अनुभूति हेत।^१

हे भगवन्! आपके निर्मल गुणों के चिन्तन-स्मरण करने से अपने व पराये की पहचान हो जाती है, निज क्या है और पर क्या है - ऐसा भेदज्ञान प्रकट हो जाता है और उससे अनेक आपत्तियों का विनाश हो जाता है।

हे प्रभो! आपकी परम शान्त मुद्रा भव्यजीवों को आत्मानुभूति में निमित्त कारण है।’

इस सन्दर्भ में निमांकित भजन की पंक्तियाँ भी द्रष्टव्य हैं-

“निरखत जिनचन्द्र-वदन स्व-पद सुरुचि आई।

प्रकटी निज-आन की पिछान ज्ञान-भान की

कला उदोत होत काम जामिनी पलाई॥१॥

१. पण्डित दौलतराम कृत देवस्तुति

२. पण्डित दौलतराम कृत आध्यात्मिक भजन।

जिनेन्द्र भगवान का भक्त जिनप्रतिमा के दर्शन के निमित्त से हुई अपूर्व उपलब्धि से भावविभोर होकर कहता है कि - जिनेन्द्र भगवान के मुख्यचन्द्र के निरखते ही मुझे अपने स्वरूप को समझने की रुचि जागृत हो गई तथा ज्ञानरूपी सूर्य की कला के प्रकट होने से मेरा मोह एवं काम भी पलायन कर गया है।”

ज्ञानीजन यद्यपि लौकिक प्रयोजनों की पूर्ति के लिए जिनेन्द्र-भक्ति कदापि नहीं करते, तथापि मूल प्रयोजनों की पूर्ति के साथ-साथ उनके लौकिक प्रयोजनों की पूर्ति भी होती है; क्योंकि शुभभाव और मन्दराग की स्थिति में नहीं चाहते हुए भी जो पुण्य बँधता है, उसके उदयानुसार यथासमय थोड़ी-बहुत लौकिक अनुकूलतायें भी प्राप्त होती ही हैं। लौकिक अनुकूलता का अर्थ मात्र अनुकूल भोगसामग्री की प्राप्ति ही नहीं है, अपितु धर्मसाधन और आत्मसाधन के अनुकूल वातावरण की प्राप्ति भी है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि जिनेन्द्र भगवान का भक्त भोगों का भिखारी तो होता ही नहीं है, वह भगवान से भोगसामग्री की माँग तो करता ही नहीं है; साथ में उसकी भावना मात्र शुभभाव की प्राप्ति की भी नहीं होती, वह तो एकमात्र वीतरागभाव का ही इच्छुक होता है; तथापि उसे पूजन और भक्ति के काल में सहज हुए शुभभावानुसार पुण्य-बंध भी होता है और तदनुसार आत्मकल्याण की निमित्तभूत पारमार्थिक अनुकूलताएँ व अन्य लौकिक अनुकूलताएँ भी प्राप्त होती हैं।

पूजा एक त्रिमुखी प्रक्रिया है। पूजा में पूज्य, पूजक एवं पूजा - ये तीन अंग प्रमुख हैं। जिसतरह सफल शिक्षा के लिए सुयोग्य शिक्षक, सजग शिक्षार्थी एवं सार्थक शिक्षा का सु-समायोजन आवश्यक है; उसी तरह पूजा का पूरा फल प्राप्त करने के लिए पूज्य, पूजक एवं पूजा का सुन्दर समायोजन जरूरी है। इसके बिना पूजा की सार्थकता संभव नहीं है। पूज्य सदृश पूर्णता एवं पवित्रता प्राप्त करना ही पूजा की सार्थकता है।

जब पूजक पूजा करते समय पूज्य परमात्मा के गुणगान करता है, उनके गुणों का स्मरण करता है, उनके परमात्मा बनने की प्रक्रिया पर विचार करता है, परमात्मा के जीवनदर्शन का आद्योपान्त अवलोकन करता है, अरहन्त, सिद्ध और साधुओं के स्वरूप से अपने स्वभाव को समझने का प्रयत्न करता है; तब उसे सहज ही समझ में आने लगता है कि - “अहो! मैं भी तो स्वभाव से परमात्मा की भाँति ही अनन्त असीम शक्तियों का संग्रहालय हूँ, अनन्त गुणों का गोदाम हूँ, मेरा स्वरूप भी तो सिद्ध-सदृश ही है। मैं स्वभाव की सामर्थ्य से सदा भरपूर हूँ। मुझ में परलक्ष्यी ज्ञान के कारण जो मोह-राग-द्वेष हो रहे हैं, वे दुःखरूप हैं - इसप्रकार सोचते-विचारते उसका ध्यान जब भगवान की पूर्व पर्यायों पर जाता है, तब उसे ख्याल आता है कि - “जब शेर जैसा क्रूर पशु भी कालान्तर में परमात्मा बन सकता है तो मैं क्यों नहीं बन सकता ? सभी पूज्य परमात्मा अपनी पूर्व पर्यायों में तो मेरे जैसे ही पामर थे ! जब वे अपने त्रिकाली स्वभाव का आश्रय लेकर परमात्मा बन गये तो मैं भी अपने स्वभाव के आश्रय से पूर्णता व पवित्रता प्राप्त कर परमात्मा बन सकता हूँ।” इसप्रकार की चिन्तनधारा ही भक्त को जिनदर्शन से निजदर्शन कराती है, यही आत्मदर्शन होने की प्रक्रिया है, पूजन की सार्थक प्रक्रिया है।

यद्यपि पूजा स्वयं में एक रागात्मक वृत्ति है, तथापि वीतराग देव की पूजा करते समय पूजक का लक्ष्य यदा-कदा अपने वीतराग स्वभाव की ओर भी झुकता है। बस, यही पूजा की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है।

पूजा में शुभराग की मुख्यता रहने से पूजक अशुभरागरूप तीव्रकषायादि पाप परिणति से बचा रहता है तथा वीतरागी परमात्मा की उपासना से सांसारिक विषय-वासना के संस्कार भी क्रमशः क्षीण होते जाते हैं और स्वभाव-सम्मुखता की रुचि से आत्मबल में भी वृद्धि होती है; क्योंकि रुचि-अनुयायी वीर्य स्फुरित होता है। अन्ततोगत्वा पूजा के रागभाव का भी अभाव करके पूजक वीतराग-सर्वज्ञ पद प्राप्त कर स्वयं पूज्य हो जाता है। इसी अपेक्षा से जिनवाणी में पूजा को परम्परा से मुक्ति का कारण कहा गया है।”

निश्चयपूजा

निश्चयनय से तो पूज्य-पूजक में कोई भेद ही दिखाई नहीं देता । अतः इस दृष्टि से तो पूजा का व्यवहार ही संभव नहीं है । निश्चयपूजा के सम्बन्ध में आचार्यों ने जो मतव्य प्रकट किये हैं, उनमें कुछ प्रमुख आचार्यों के विचार द्रष्टव्य हैं -

आचार्य योगीन्दु देव लिखते हैं -

‘मणु मिलियु परमेसरहं परमेसरु वि मणस्स ।

बीहि वि समरसि हूबाहूं पूज्ज चढावहु कस्स ॥^१

विकल्परूप मन भगवान आत्मा से मिल गया, तन्मय हो गया और परमेश्वरस्वरूप भगवान आत्मा भी मन से मिल गया । जब दोनों ही सम-रस हो गये तो अब कौन/किसकी पूजा करे? अर्थात् निश्चयदृष्टि से देखने पर पूज्य-पूजक का भेद ही दिखाई नहीं देता तो किसको अर्ध्य चढ़ाया जाये?’

इसीतरह आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं -

‘यः परात्मा स एवाऽहं योऽहं स परमस्ततः ।

अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः ॥^२

स्वभाव से जो परमात्मा है, वही मैं हूँ तथा जो स्वानुभवगम्य मैं हूँ, वही परमात्मा है; इसलिए मैं ही मेरे द्वारा उपास्य हूँ, दूसरा कोई अन्य नहीं।’

इसी बात को कुन्दकुन्दाचार्य देव ने अभेदनय से इसप्रकार कहा है-

“अरुहा सिद्धायरिया उज्जाया साहु पंच परमेष्ठी ।

ते वि हु चिद्गुहि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं ॥^३

अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु - ये जो पंच परमेष्ठी हैं; वे आत्मा में ही चेष्टारूप हैं, आत्मा ही की अवस्थायें हैं; इसलिए मेरे आत्मा ही का मुझे शरण है।’

इसप्रकार यह स्पष्ट होता है कि अपने आत्मा में ही उपास्य-उपासक भाव घटित करना निश्चयपूजा है।



व्यवहारपूजा : भेद-प्रभेद

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव; पूज्य, पूजक, पूजा; नाम, स्थापना आदि तथा इन्द्र, चक्रवर्ती आदि द्वारा की जानेवाली पूजा की अपेक्षा व्यवहार पूजन के अनेक भेद-प्रभेद हैं।

पूजा को द्रव्यपूजा और भावपूजा में विभाजित करते हुए आचार्य अमितगति उपासकाचार में लिखते हैं--

“वचो विग्रहसंकोचो द्रव्यपूजा निगद्यते ।

तत्र मानससंकोचो भावपूजा पुरातनैः ॥१॥

वचन और काय को अन्य व्यापारों से हटाकर स्तुत्य (उपास्य) के प्रति एकाग्र करने को द्रव्यपूजा कहते हैं और मन की नाना प्रकार से विकल्पजनित व्यग्रता को दूर करके उसे ध्यान तथा गुण-चिन्तनादि द्वारा स्तुत्य में लीन करने को भावपूजा कहते हैं।”

आचार्य अमितगति ने अमितगति श्रावकाचार में एवं आचार्य वसुनन्दि ने वसुनन्दि श्रावकाचार में द्रव्यपूजा के निमांकित तीन भेद किये हैं^१ -

(१) सचित्त पूजा (२) अचित्त पूजा (३) मिश्र पूजा ।

१. सचित्त पूजा - प्रत्यक्ष उपस्थित समवशरण में विराजमान जिनेन्द्र भगवान और निर्ग्रन्थ गुरु का यथायोग्य पूजन करना सचित्त द्रव्यपूजा है।

२. अचित्त पूजा - तीर्थकर के शरीर (प्रतिमा) की ओर द्रव्यश्रुत (लिपिबद्ध शास्त्र) की पूजन करना अचित्त द्रव्यपूजा है।

३. मिश्र पूजा - उपर्युक्त दोनों प्रकार की पूजा मिश्र द्रव्यपूजा है।

सचित्त फलादि से पूजन करनेवालों को उपर्युक्त कथन पर विशेष ध्यान देना चाहिए। इसमें अत्यन्त स्पष्ट रूप से कहा गया है कि सचित्तता सामग्री की नहीं, आराध्य की होना चाहिए। सचित्त माने साक्षात् सशरीर जिनेन्द्र भगवान और अचित्त माने उनकी प्रतिमा।

१. स्तुतिविद्या, प्रस्तावना, पृष्ठ १० : जुगलकिशोर मुख्तार।

२. अमितगति श्रावकाचार, १२-१३ एवं वसुनन्दि श्रावकाचार, श्लोक ४४९-५०

महापुराण में द्रव्यपूजा के पाँच प्रकार बताये हैं -

१. सदाचन (नित्यमह) २. चतुर्मुख ३. कल्पद्रुम ४. आषाहिक
५. ऐन्द्रध्वज।

१. सदाचन पूजा - इसे नित्यमह तथा नित्यनियम पूजा भी कहते हैं। यह चार प्रकार से की जाती है।

(अ) अपने घर से अष्ट द्रव्य ले जाकर जिनालय में जिनेन्द्रदेव की पूजा करना।

(आ) जिन प्रतिमा एवं जिन मन्दिर का निर्माण करना।

(इ) दानपत्र लिखकर ग्राम-खेत आदि का दान देना।

(ई) मुनिराजों को आहार दान देना।

२. चतुर्मुख(सर्वतोभद्र) पूजा - मुकुटबद्ध राजाओं द्वारा महापूजा करना।

३. कल्पद्रुम पूजा - चक्रवर्ती राजा द्वारा किमिच्छिक दान देने के साथ जिनेन्द्र भगवान का पूजोत्सव करना।

४. आषाहिक पूजा - आषाहिक पर्व में सर्व साधारण के द्वारा पूजा का आयोजन करना।

५. ऐन्द्रध्वज पूजा - यह पूजा इन्द्रों द्वारा की जाती है।

उपर्युक्त पाँच प्रकार की पूजनों में हम लोग सामान्यजन प्रतिदिन केवल सदाचन (नित्यमह) का 'अ' भाग ही करते हैं। शेष पूजनें भी यथा-अवसर यथायोग्य व्यक्तियों द्वारा की जाती हैं।

वसुनन्दि श्रावकाचार में नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से द्रव्यपूजा के छह भेद कहे हैं -

१. नाम पूजा - अरिहन्तादि का नाम उच्चारण करके विशुद्ध प्रदेश में जो पुष्पक्षेपण किये जाते हैं, वह नाम पूजा है।

२. स्थापना पूजा – यह दो प्रकार की है – सद्भाव स्थापना और असद्भाव स्थापना। आकारवान वस्तु में अरहन्तादि के गुणों का आरोपण करना सद्भाव स्थापना है तथा अक्षतादि में अपनी बुद्धि से वह परिकल्पना करना कि यह अमुक देवता है, असद्भाव स्थापना है। असद्भाव स्थापना मूर्ति की उपस्थिति में नहीं की जाती।^१

३. द्रव्य पूजा – अरहन्तादि को गंध, पुष्प, धूप, अक्षतादि समर्पण करना तथा उठकर खड़े होना, नमस्कार करना, तीन प्रदक्षिणा देना आदि शारीरिक क्रियाओं तथा वचनों से स्तवन करना द्रव्य पूजा है।

४. भाव पूजा – परमभक्ति से अनन्त चतुष्टयादि गुणों के कीर्तन द्वारा त्रिकाल वन्दना करना निश्चय भावपूजा है। पंच नमस्कार मंत्र का जाप करना तथा जिनेन्द्र का स्तवन अर्थात् गुणस्मरण करना भी भाव पूजा है तथा पिण्डस्थ, पदस्थ आदि चार प्रकार के ध्यान को भी भाव पूजा कहा गया है।

५. क्षेत्र पूजा – तीर्थकरों की पंचकल्याणक भूमि में स्थित तीर्थक्षेत्रों की पूर्वोक्त प्रकार से पूजा करना क्षेत्र पूजा है।

६. काल पूजा – तीर्थकरों की पंचकल्याणक तिथियों के अनुसार पूजन करना तथा पर्व के दिनों में विशेष पूजायें करना काल पूजा है।^२

जिनपूजा में अन्तरंग भावों की ही प्रधानता है; क्योंकि वीतरागी होने से भगवान को तो पूजा से कोई प्रयोजन ही नहीं है। पूजक के जैसे परिणाम होंगे, तदनुसार ही उसे फल की प्राप्ति होती है।

अहो! देव-गुरु-धर्म तो सर्वोत्कृष्ट पदार्थ हैं, इनके आधार से धर्म है। इनमें शिथिलता रखने से अन्य धर्म किसप्रकार होगा? इसलिए बहुत कहने से क्या? सर्वथा प्रकार से कुदेव-कुगुरु-कुधर्म का त्यागी होना योग्य है।

– मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ १९२

१. वसुनन्दि श्रावकाचार, ३८३-३८४

२. भगवती आराधना, गाथा ४६ विजयोदया टीका एवं वसुनन्दि श्रावकाचार, ४५६ से ४५८।

पूजन विधि और उसके अंग

पूजन विधि और उसके अंगों में देश, काल और वातावरण के अनुसार यत्किंचित् परिवर्तन होते रहे हैं, परन्तु उन परिवर्तनों से पूजन की मूलभूत भावना, प्रयोजन और उद्देश्य में कोई अन्तर नहीं आया। उद्देश्य में अन्तर आने का कारण पूजन की विभिन्न पद्धतियाँ नहीं, बल्कि तद्विषयक ज्ञान होता है। जहाँ पूजन ही साध्य समझ ली गई हो या किसी विधि विशेष को अपने पंथ की प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लिया गया हो, वहाँ मूलभूत प्रयोजन की पूर्ति की संभावनायें क्षीण हो जाती हैं।

वर्तमान पूजन-विधि में पूजन के कहीं पाँच अंगों का और कहीं छह अंगों का उल्लेख मिलता है। दोनों ही प्रकार के अंगों में कुछ-कुछ नाम साम्य होने पर भी व्याख्याओं में मौलिक अन्तर है। दोनों ही मान्यतायें व विधियाँ वर्तमान में प्रचलित हैं। अतः दोनों ही विधियाँ विचारणीय हैं।

पण्डित सदासुखदासजी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार की टीका में पूजन के पाँच अंगों का निर्देश किया है।^१ इस सन्दर्भ में वे लिखते हैं :-

‘व्यवहार में पूजन के पाँच अंगनि की प्रवृत्ति देखिये है-

(१) आह्वानन (२) स्थापन (३) सन्निधापन या सन्निधिकरण (४) पूजन (५) विसर्जन।

सो भावनि के जोड़वा वास्ते आह्वाननादिकनि में पुष्पक्षेपण करिये हैं। पुष्पनि कूँ प्रतिमा नहीं जानै हैं। ए तो आह्वाननादिकनि का संकल्प तैं पुष्पांजलि क्षेपण है। पूजन में पाठ रच्या होय तो स्थापना करले, नाहीं होय तो नहीं करे। अनेकान्तिनि के सर्वथा पक्ष नाहीं। भगवान परमात्मा तो सिद्ध लोक में हैं, एक प्रदेश भी स्थान तैं चले नाहीं, परन्तु तदाकार प्रतिबिम्ब सूँ ध्यान जोड़ने के अर्थि साक्षात् अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एवं साधु रूप का प्रतिमा में निश्चय करि प्रतिबिम्ब में ध्यान स्तवन करना।’^२

१. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, पण्डित सदासुखदासजी, श्लोक ११९, पृष्ठ २१४

२. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक ११९ की टीका पृष्ठ २१४

इसी सन्दर्भ में जैन निबन्ध रत्नावलि का निम्नलिखित कथन भी द्रष्टव्य है—

‘‘सोमदेव ने यशस्तिलक चम्पू में और पद्मनन्दि पंचविंशति में अर्हदादि की पूजा में सिर्फ अष्ट द्रव्यों से पूजा तो लिखी है, किन्तु आह्वानन, स्थापन, सन्निधिकरण व विसर्जन नहीं लिखा है। ये सर्वप्रथम पं. आशाधरजी के प्रतिष्ठा पाठ में और अभिषेक पाठ में मिलते हैं, किन्तु अरहन्तपूजा में विसर्जन उन्होंने भी नहीं लिखा। आगे चलकर इन्द्रनन्दि ने अरहन्तादि का विसर्जन भी लिख दिया है।

इसी शृंखला में इसी काल के आस-पास यशोनन्दि कृत संस्कृत की पंचपरमेष्ठी पूजन में भी पूजन के चार अंग ही मिलते हैं, विसर्जन उसमें भी नहीं है।’’^१

इसप्रकार प्राचीन और अर्वाचीन दोनों की पूजन पद्धतियों में पूजन के उपर्युक्त पाँचों अंगों का यत्किंचित् फेर-फार के साथ प्रचलन पाया जाता है।

यद्यपि सिद्धलोक में विराजमान वीतराग भगवान की पूजन में तार्किक दृष्टि से विचार करने पर इनका औचित्य प्रतीत नहीं होता, परन्तु भक्तिभावना के स्तर का यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य व व्यावहारिक सत्य है। यह पूजन पद्धति की एक सहज प्रक्रिया है, जो भावनाओं से ही अधिक सम्बन्ध रखती है। पूजा में पूजक के मन में पूज्य के प्रति एक ऐसी सहज परिकल्पना या मनोभावना होती है कि मानो पूज्य मेरे सामने ही खड़े हैं, अतः यह आह्वाननादि के द्वारा ‘ॐ हीं.....अत्र अवतर-अवतर संवौषट्, अत्र तिष्ठ-तिष्ठ ठः ठः, अत्र मम सन्निहितो भव-भव वषट्’ बोलकर उन्हें बुलाने, सम्मान सहित बिठाने तथा सन्निकट लाने की भावना भाता है, मनमन्दिर के सिंहासन पर बिठाकर पूज्य की पूजा-अर्चना करना चाहता है।

जिनमन्दिर में तदाकार स्थापना के रूप में जिनप्रतिमा विद्यमान होती है। उसी एक तदाकार स्थापना में सभी पूज्य परमात्माओं की तदाकार परिकल्पना कर ली जाती है। ठोना में पुष्पों का क्षेपण तो केवल पुष्पांजलि अर्पण करना है।

पाँच अँगों का सामान्य अर्थ इसप्रकार है -

- (१) **आह्वानन :** पूज्य को बुलाने की मनोभावना ।
- (२) **स्थापन :** बुलाये गये पूज्य को सम्मान उच्चासन पर विराजमान करने की मनोभावना ।
- (३) **सन्निधिकरण :** भावना के स्तर पर अत्यन्त भक्तिपूर्वक उच्चासन पर बिठाने पर भी तृप्ति न होने से अतिसन्निकट अर्थात् हृदय के सिंहासन पर बिठाने की तीव्र उत्कण्ठा या मनोभावना ।
- (४) **पूजन :** पूजन वह क्रिया है, जिसमें भक्त भगवान की प्रतिमा के समक्ष अष्ट द्रव्य आदि विविध आलम्बनों द्वारा कभी तो उन अष्ट द्रव्यों को परमात्मा के गुणों के प्रतीक रूप देखता हुआ क्रमशः एक-एक द्रव्य का आलम्बन लेकर भगवान का गुणानुवाद करता है। कभी उन अष्टद्रव्यों को विषयों में अटकाने में निमित्तभूत भोगों का प्रतीक मानकर उन्हें भगवान के समक्ष त्यागने की भावना भाता है। कभी अनर्घ्य (अमूल्य) पद की प्राप्ति हेतु अर्घ्य (बहुमूल्य) सामग्री के रूप में पुण्य से प्राप्त सम्पूर्ण वैभव की समर्पणता करने को उत्सुक दिखाई देता है। भक्त की इसी क्रिया/प्रक्रिया को पूजन कहते हैं।
- (५) **विसर्जन :** पूजा की समाप्ति पर पूजा के समय हुई द्रव्य एवं भाव सम्बन्धी त्रुटियों के लिए अत्यन्त विनम्र भावों से क्षमा-प्रार्थना के साथ भक्तिभाव प्रकट करते हुए पूज्य की चरण-शरण सदा प्राप्त रहे-ऐसी कामना करना विसर्जन है।

* पर्याय की क्रमबद्धता की स्वीकृति में पुरुषार्थ का लोप नहीं, वरन् पर्याय के प्रति उदासीनता होने पर अक्षय चैतन्य की अनुभूति का सशक्त पुरुषार्थ जागृत होता है। ●

अभिषेक या प्रक्षाल

सर्वप्रथम यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि उक्त पाँचों अंगों में अभिषेक या प्रक्षाल सम्मिलित नहीं है। इससे यह तो स्पष्ट ही है कि अभिषेक या प्रक्षाल के बिना भी पूजन अपूर्ण नहीं है। प्रत्येक पूजक को अभिषेक करना अनिवार्य नहीं है, आवश्यक भी नहीं है। बार-बार प्रक्षाल करने से प्रतिमा के अंगोपांग अल्पकाल में ही घिस जाते हैं, पाषाण भी खिरने लगता है; अतः प्रतिमा की सुरक्षा की दृष्टि से भी प्रतिदिन दिन में एक बार ही शुद्ध प्रासुक जल से प्रक्षाल होना चाहिए। मूर्तिमान तो त्रिकाल पवित्र ही है, केवल मूर्ति में लगे रजकणों की स्वच्छता हेतु प्रक्षाल किया जाता है। मूर्ति को स्वच्छ रखने में शिथिलता न आने पाये, एतदर्थ प्रतिदिन प्रक्षाल करने का नियम है।

वर्तमान में अभिषेक के विषय में दो मत पाये जाते हैं। प्रथम मत के अनुसार पंचकल्याणक प्रतिष्ठा होने के बाद जिनप्रतिमा समवशरण के प्रतीक जिनमन्दिर में विराजमान अरहंत व सिद्ध परमात्मा की प्रतीक मानी जाती है। इसलिए उस अरहंत की प्रतिमा का अभिषेक जन्मकल्याणक के अभिषेक का प्रतीक नहीं हो सकता।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार में अरहंत परमात्मा की प्रतिमा के अभिषेक के विषय में लिखा है - ‘‘यद्यपि भगवान के अभिषेक का प्रयोजन नाहीं, तथापि पूजक के प्रक्षाल करते समय ऐसा भक्तिरूप उत्साह का भाव होता है - जो मैं अरहंत कूँ ही साक्षात् स्पर्श करूँ हूँ।’’^१

कविवर हरजसराय कृत अभिषेक पाठ में तो यह भाव और सशक्त ढंग से व्यक्त हुआ है। वे लिखते हैं-

‘‘पापाचरण तजि नह्नन करता, चित्त में ऐसे धरूँ।

साक्षात् श्री अरहंत का, मानो नह्नन परसन करूँ॥

ऐसे विमल परिणाम होते, अशुभ नशि शुभबन्धतैं।

विधि^२ अशुभ नसि शुभ बन्धतैं, हौ शर्म^३ सब विधि^४ नासतैं।’’

१. रत्नकरण्ड श्रावकाचार : पं. सदासुखदासजी की टीका पृष्ठ २०८

२. कर्म ३. सुख ४. सब प्रकार से

आगे अभिषेक करता हुआ पूजक अपनी पर्याय को पवित्र व धन्य अनुभव करता हुआ कहता है -

“पावन मेरे नयन भये तुम दरस तैं। पावन पान^१ भये तुम चरनन परस तैं॥

पावन मन है गयो तिहारे ध्यान तैं। पावन रसना मानी तुम गुन-गान तैं॥

पावन भई परजाय मेरी, भयो मैं पूरन धनी।

मैं शक्तिपूर्वक भक्ति कीनी, पूर्ण भक्ति नहीं बनी॥

धनि धन्य ते बड़भागि भवि तिन नींव शिवघर की धरी।

वर क्षीरसागर आदि जल मणिकुंभ भरि भक्ति करी॥”

इसके भी आगे पूजक प्रक्षाल का प्रयोजन प्रगट करता हुआ कहता है-

“तुम तो सहज पवित्र, यही निश्चय भयो। तुम पवित्रता हेत नहीं मज्जन^२ ठयो॥

मैं मलीन रागादिक मल करि है रह्यो। महामलिन तन में वसुविधि वश दुःख सह्यो॥^३

इसके साथ-साथ प्रतिदिन प्रक्षाल करने का दूसरा प्रयोजन परम-शान्त मुद्रा युक्त वीतरागी प्रतिमा की वीतरागता, मनोज्ञता व निर्मलता बनाये रखने के लिए यत्नाचारपूर्वक केवल छने या लेंग आदि द्वारा प्रासुक पानी से प्रतिमा को परिमार्जित करके साफ-सुथरा रखना भी है।

दुग्धाभिषेक करने वालों को यदि यह भ्रम हो कि देवेन्द्र क्षीरसागर के दुग्ध से भगवान का अभिषेक करते हैं तो उन्हें ज्ञात होना चाहिए कि क्षीरसागर में त्रस-स्थावर जन्तुओं से रहित शुद्ध निर्मल जल ही होता है, दूध नहीं। क्षीरसागर तो केवल नामनिक्षेप से उस समुद्र का नाम है।

द्वितीय मत के अनुसार अभिषेक जन्मकल्याणक का प्रतीक माना गया है। सोमदेवसूरि (जो मूलसंघ के आचार्य नहीं हैं) द्वितीय मत का अनुकरण करने वाले जान पड़ते हैं; क्योंकि उन्होंने अभिषेक विधि का विधान करते समय वे सब क्रियायें बतलाई हैं, जो जन्माभिषेक के समय होती हैं। यह जन्माभिषेक भी इन्द्र और देवगण द्वारा क्षीरसागर के जीव-जन्तु रहित निर्मल जल से ही किया जाता है, दूध-दही आदि से नहीं।

यहाँ ज्ञातव्य यह है कि दोनों ही मान्यताओं के अनुसार जिनप्रतिमा का अभिषेक या प्रक्षाल केवल शुद्ध प्रासुक निर्मल जल से ही किया जाना चाहिए।

१. ज्ञान, २. परिमार्जन करना, अंगोछे से पोंछना, ३. वृहज्जिनवाणी संग्रह : टोडरमल स्मारक, पृष्ठ ६२

पूजन के लिए प्रासुक अष्ट द्रव्य

पूजन के विविध आलम्बनों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आलम्बन अष्ट द्रव्य माने जाते हैं। अष्ट द्रव्य चढ़ाने के सम्बन्ध में वर्तमान में स्पष्ट दो मत हैं। प्रथम पक्ष के अनुसार तो अचित्त प्रासुक द्रव्य ही पूजन के योग्य हैं। यह पक्ष सचित्त द्रव्य को हिंसामूलक होने से स्वीकार नहीं करता तथा दूसरा पक्ष पूजन सामग्री में सचित्त अर्थात् हरितकाय फल-फूल एवं पकवान व मिष्ठान को भी पूजन के अष्ट द्रव्य में सम्मिलित करता है।

इस सम्बन्ध में यदि हम अपना पक्षव्यामोह छोड़कर साम्यभाव से आगम का अध्ययन करें और उनकी नय विवक्षा को समझने का प्रयत्न करें तो हमें बहुत कुछ समाधान मिल सकता है।

पूजन के छन्दों के आधार पर जिन लोगों का यह आग्रह रहता है कि- जब हम विविध फलों और पकवानों के नाम बोलते हैं तो फिर उन्हें ही क्यों न चढ़ायें? भले ही वे सचित्त हों, अशुद्ध हों।

उनसे हमारा अनुरोध है कि हमारी पूजा में आद्योपान्त एक वस्तु भी तो वास्तविक नहीं है। स्वयं हमारे पूज्य परमात्मा की स्थापना एक पाषाण की प्रतिमा में की गई है। देवकृत दिव्य समवशरण की स्थापना सीमेंट, ईंट-पत्थर के बने मन्दिर में की गई है। स्वयं पूजक भी असली इन्द्र कहाँ है? जब आद्योपान्त सभी में स्थापना निष्केप से काम चलाया गया है तो अकेले अष्ट द्रव्य के सम्बन्ध में ही हिंसामूलक सचित्त मौलिक वस्तु काम में लेने का हठाग्रह क्यों?

सचित्त पूजा करनेवाले क्या कभी पूजा में उल्लिखित सामग्री के अनुसार पूरा निर्वाह कर पाते हैं? जरा विचार करें - पूजाओं के पदों में तो कंचन-झारी में क्षीरसागर का जल एवं रत्नदीप समर्पित करने की तथा नाना प्रकार के सरस व्यंजनों से पूजा करने की बात आती है; पर आज क्षीरसागर का जल तो क्या कुएँ का पानी कठिन हो रहा है और रत्नदीप तो हमने केवल

पुस्तकों में ही देखे हैं।^१ आखिर में जब सभी जगह कल्पना से ही काम चलाना पड़ता है, तब हम क्यों नहीं अहिंसामूलक शुद्ध वस्तु से ही काम चलायें? आगमानुसार भी पूजा में तो भावों की ही मुख्यता होती है, द्रव्य की नहीं। द्रव्य तो आलम्बन मात्र है। जैसे विशुद्ध परिणाम होंगे, फल तो वैसा ही मिलेगा।

कहा भी है-

“जीवन के परिणामन की अति विचित्रता देख हु प्राणी।

बन्ध-मोक्ष परिणामन ही तैं कहत सदा है जिनवाणी ॥”

यद्यपि यह बात सच है कि पद्मपुराण, वसुनन्दि श्रावकाचार, सागर धर्ममृत, तिलोयपण्णति और पंचकल्याणक प्रतिष्ठा पाठों में सचित् द्रव्यों द्वारा की गई पूजा की खूब खुलकर चर्चा है, परन्तु क्या कभी आपने यह देखने व समझने का भी प्रयास किया है कि ये पूजायें किसने, कब, कहाँ कीं और किन-किन द्रव्यों से कीं?

लगभग सभी चर्चयें इन्द्रध्वज, अष्टाहिका, कल्पद्रुम, सदार्चन एवं चतुर्मुख पूजाओं से सम्बन्धित हैं, जो सर्वशक्तिसम्पन्न इन्द्रगण, देवगण, पुराणपुरुष, चक्रवर्ती एवं मुकुटबद्ध राजाओं द्वारा दिव्य निर्जन्तुक सामग्री से की जाती हैं। हम सब स्वयं अकृत्रिम चैत्यालयों के अंत में अंचलिका के रूप में पढ़ते हैं-

“चहुविहा देवा सपरिवारा दिव्वेण गंधेण, दिव्वेण पुफ्फेण दिव्वेण चुणेण, दिव्वेण धूवेण, दिव्वेण वासेण, दिव्वेण णहाणेण णिच्चकालं अच्चन्ति पुज्जन्ति वन्दन्ति णमस्संति । अहमवि इह सन्तोतत्थ संताई णिच्चकालं अच्चेमि पुज्जेमि वन्दामि णमस्सामि” अर्थात् सभी सामग्री देवोपनीत कल्पवृक्षों से प्राप्त दिव्य प्रासुक निर्जन्तुक होती है।^२

इस सम्बन्ध में पण्डित सदासुखदासजी के निम्नांकित विचार दृष्टव्य हैं-

“इस कलिकाल में भगवान् प्ररूप्या नयविभाग तो समझे नाहीं, अर शास्त्रनि में प्रस्तुपण किया तिस कथनी कूँ नयविभाग तैं जाने नाहीं, अर अपनी कल्पना तैं ही पक्षग्रहण करि यथेच्छ प्रवर्ते हैं।”^३

१. “वर नीर क्षीर समुद्र घट भरि अग्र तसु वहु विधि नचूँ” - देव-शास्त्र-गुरु पूजा : कविवर द्यानतराय

२. तिलोयपण्णति ३/२२३-२२६ में भी इसी तरह का उल्लेख है।

३. रत्नकरण्ड श्रावकाचार टीका, पण्डित सदासुखदास, श्लोक १११, पृष्ठ-२११

सचित्त द्रव्यों से पूजन करने का निषेध करते हुए वे आगे लिखते हैं-

“इस दुष्मकाल में विकलत्रय जीवनि की उत्पत्ति बहुत है, अर पुष्पनि में बेंद्री, तेन्द्री, चौइन्द्री, पंचेन्द्री त्रस जीव प्रगट नेत्रनि के गोचर दौड़ते देखिये हैं...। अर पुष्पादि में त्रस जीव तो बहुत ही हैं। अर बादर निगोद जीव अनंत हैं...। तातैं ज्ञानी धर्म बुद्धि हैं ते तो समस्त कार्य यत्नाचार तैं करो....।”^१

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि आगम में सचित्त व अचित्त द्रव्य से पूजन का विधान है, वह कहाँ किस अपेक्षा है - यह समझकर हमें अचित्त द्रव्य से ही पूजा करना चाहिए। पण्डित सदासुखदासजी के ही शब्दों में -

“जे सचित्त के दोष तैं भयभीत हैं, यत्नाचारी हैं, ते तो प्रासुक जल, गन्ध, अक्षत कूं चन्दन कुमकुमादि तैं लिस करि, सुगन्धं संगीन चावलों में पुष्पनि का संकल्प कर पुष्पनि तैं पूजैं हैं तथा आगम में कहे सुवर्ण के पुष्प व रूपा के पुष्प तथा रत्नजटित सुवर्ण के पुष्प तथा लवंगादि अनेक मनोहर पुष्पनि करि पूजन करें हैं, बहुरि रत्ननि के दीपक व सुवर्ण रूपामय दीपकनि करि पूजन करें हैं तथा बादाम, जायफल, पूंगीफलादि विशुद्ध प्रासुक फलनि तैं पूजन करें हैं।”^२

यद्यपि पूजन में सर्वत्र भावों की ही प्रधानता है, तथापि अष्ट द्रव्य भी हमारे उपयोग की विशेष स्थिरता के लिए अवलम्बन के रूप में पूजन के आवश्यक अंग माने गये हैं। आगम में भी पूजन के अष्ट द्रव्यों का विधान है, किन्तु पूजन-सामग्री में इस बात का विशेष ध्यान रखा गया है कि ऐसी कोई वस्तुपूजन के अष्ट द्रव्य में सम्मिलित न हो, जो हिंसामूलक हो और जिसके कारण लोक की जगत की संचालन व्यवस्था में कोई बाधा या अवरोध उत्पन्न होता हो।

यही कारण है कि गेहूँ, चना, जौ आदि अनाजों को पूजन-सामग्री में सम्मिलित नहीं किया गया है; क्योंकि वे बीज हैं, बोने पर उगते हैं। देश की आवश्यकता की पूर्ति के साथ-साथ समृद्धि के भी साधन हैं। इसी हेतु से दूध दही-घी आदि का भी अभिषेक, पूजन एवं हवन आदि में उपयोग नहीं होना चाहिए। तथा

१. रत्नकरण्ड श्रावकाचार टीका, पण्डित सदासुखदास, श्लोक ११९, पृष्ठ २११

२. रत्नकरण्ड श्रावकाचार टीका, पण्डित सदासुखदास, श्लोक ११९, पृष्ठ २०६

इसीकारण निष्टुष्ट-निर्मल-शुभ्र तण्डुल और जल-चन्दन-नैवेद्य-दीप-धूप-

फल आदि प्राकृतिक व सूखे-पुराने प्रासुक पदार्थ ही पूजन के योग्य कहे गये हैं।

भले ही जल-चन्दन-नैवेद्य-दीप-धूप और फल आदि लौकिक दृष्टि से सोना-चाँदी एवं जवाहरात की भाँति बहुमूल्य नहीं हों, किन्तु जीवनोपयोगी होने से ये पदार्थ बहुमूल्य ही नहीं, बल्कि अमूल्य भी हैं। जल भले ही बिना मूल्य के मिल जाता हो, परन्तु जल के बिना जीवन संभव नहीं है, इसीकारणउसे जीवन भी कहा है। तथा चन्दन, अक्षत, दीप, धूप, पुष्प, फलादि सामग्री भले ही जल की भाँति जीवनोपयोगी न हो, तथापि ‘कर्पूरं घनसारं च हिमं सेवते पुण्यवान्’ की उक्त्यनुसार इसका सेवन (उपभोग) पुण्यवानों को हीप्राप्त होता है। इस्तरह यद्यपि ये पदार्थ भी सम्मानसूचक होने से पूजन के योग्य माने गये हैं, किन्तु अहिंसा की दृष्टि से इन सबका प्रासुक व निर्जन्तुक होना आवश्यक है।

जब हमारे यहाँ कोई विशिष्ट अतिथि (मेहमान) आते हैं तो हम उनके स्वागत में अपने घर में उपलब्ध उत्कृष्टतम पदार्थ उनकी सेवा में समर्पित करते हैं। स्वयं तो स्टील की थाली में भोजन करते हैं किन्तु उन्हें चाँदी की थाली में कराते हैं। स्वयं पुराने कम्बल-चादर ओढ़ते-बिछाते हैं और मेहमान के लिए नये-नये वस्त्र-बर्तन आदि काम में लेते हैं। उसीतरह जिनेन्द्र भगवान की पूजन के लिए आचार्यों ने उत्तमोत्तम बहुमूल्य जीवनोपयोगी और सम्मानसूचक पदार्थों को समर्पण करने की भावना प्रकट की है।

परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि जो-जो पदार्थ पूजनों में लिखे हैं, वे सभी पदार्थ उसी रूप में पूजन में अनिवार्य रूप से होने ही चाहिए। जिसके पास जो संभव हो, अपनी शक्ति और साधनों के अनुसार प्राप्त पूजन सामग्री द्वारा पूजन की जा सकती है। इतना अवश्य है कि वह पूजन सामग्री अचित्त, निर्जन्तुक-प्रासुक व पवित्र हो।

मोक्षमार्गप्रकाशक में श्री टोडरमलजी ने भी यह लिखा है –

‘केवली के व प्रतिमा के आगे अनुराग से उत्तम वस्तु रखने का दोष नहीं है। धर्मानुराग से जीवन का भला होता है।’^१

इसी अभिप्राय से आचार्यों ने अष्टद्रव्यों में उत्तमोत्तम कल्पनायें की हैं— मणिजड़ित सोने की झारी और उसमें क्षीरसागर या गंगा का निर्मल जल, रत्नजड़ित मणिदीप, उत्तमोत्तम पकवान एवं सुस्वादु सरस फल आदि।

यही कारण है कि अब तक उपलब्ध प्राचीन पूजन साहित्य में अधिकांशतः यही धारा प्राप्त होती है। सब कुछ बढ़िया होने पर भी इसमें कभी—कभी ऐसा लगने लगता है कि हम जिनेन्द्र देव के नहीं, उन्हें चढ़ाई जानेवाली सामग्री के गीत गा रहे हैं। कभी—कभी तो ऐसा भी होता है कि हम जल—फल आदि की प्रशंसा में इतने मग्न हो जाते हैं कि भगवान को भी भूल जाते हैं।

शायद हमारी इसी कमजोरी को ध्यान में रखकर आज जो नई आध्यात्मिक धारायें विकसित हो रहीं हैं, उनमें जल—फलादि सामग्री के गुणगान की अपेक्षा उनको प्रतीक बनाकर जिनेन्द्र भगवान के अधिक गुण गाये गये हैं तथा जीवनोपयोगी बहुमूल्य सुन्दरतम जलादि सामग्री की अनुशंसा की अपेक्षा सुख और शान्ति की प्राप्ति में उनकी निरर्थकता अधिक बताई गई है; इसी कारण उसके त्याग की भावना भी भायी गई है।

यह बात भी नहीं है कि यह धारा आधुनिक युग की ही देन हो। क्षीण रूप में ही सही, पर यह प्राचीन काल में भी प्रवाहित थी। इस युग में यह मूलधारा के रूप में चल रही है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि वर्तमान में हिन्दी पूजन साहित्य में मुख्यरूप से तीन धारायें प्रवाहित हो रही हैं :—

१. पहली तो चढ़ाये जानेवाले द्रव्य की विशेषताओं की निरूपक।
२. दूसरी द्रव्यों के माध्यम से पूज्य परमात्मा के गुणानुवाद करने वाली।
३. तीसरी लौकिक जीवनोपयोगी एवं सम्मानसूचक बहुमूल्य पदार्थों की आध्यात्मिक जीवन की समृद्धि में निरर्थकता बताकर उन्हें त्यागने की भावना व्यक्त करनेवाली।

प्रथम धारा की बात तो स्पष्ट हो ही चुकी। दूसरी धारा में कविवर द्यानतराय का निमांकित छन्द द्रष्टव्य है :—

‘उत्तम अक्षत जिनराज पुंज धरें सोहें।

सब जीते अक्ष समाज तुम-सम अरु को है॥”^१

उक्त छन्द में अक्षतों (सफेद चावलों) के अवलम्बन से जिनराज को ही उत्तम अक्षत कहा गया है।

यहाँ कवि का कहना है कि – हे जिनराज! अनन्तगुणों के समूह (पुंज) से शोभायमान, कभी भी नाश को प्राप्त न होनेवाले अक्षय स्वरूप होने से आप ही वस्तुतः उत्तम अक्षत हो। आपने समस्त अक्षसमाज (इन्द्रिय समूह) को जीत लिया है; अतः हे जितेन्द्रियजिन! आपके समान इस जगत में और कौन हो सकता है? सचमुच देखा जाये तो आप ही सच्चे अक्षत हो, अखण्ड व अविनाशी हो।

उक्त सन्दर्भ में निम्नांकित पंक्तियाँ भी द्रष्टव्य हैं :-

सचमुच तुम अक्षत हो प्रभुवर तुम ही अखण्ड अविनाशी हो।^२

प्रभुवर तुम जल-से शीतल हो, जल-से निर्मल अविकारी हो।

मिथ्यामल धोने को प्रभुवर, तुम ही तो मल परिहारी हो॥^३

तीसरी धारा में आनेवाली सर्वस्व समर्पण की भावना से ओत-प्रोत निम्नांकित प्राचीन पूजन की पंक्तियाँ भी अपने आप में अद्भुत हैं :-

यह अरघ कियो निज हेत, तुम को अरपत हों।

द्यानत कीनो शिवखेत, भूमि समरपत हों॥^४

इस सन्दर्भ में आधुनिक पूजन की निम्न पंक्तियाँ भी दृष्टव्य हैं -

बहुमूल्य जगत का वैभव यह, क्या हमको सुखी बना सकता।

अरे! पूर्णता पाने में, क्या इसकी है आवश्यकता॥

मैं स्वयं पूर्ण हूँ अपने में, प्रभु है अनर्थ्य मेरी माया।

बहुमूल्य द्रव्यमय अर्थ्य लिये, अर्पण के हेतु चला आया॥^५

श्री जुगलकिशोरजी ‘युगल’ कृत देव-शास्त्र-गुरु-पूजन में यह भावना भी सशक्त रूप में व्यक्त हुई है :-

१. कविवर द्यानतराय : नन्दीश्वर पूजन।

२. डॉ. हुक्मचन्द भारिल्ल : सिद्ध पूजन।

३. वही : सीमधर पूजन।

४. कविवर द्यानतराय : नन्दीश्वर पूजन।

५. हुक्मचन्द भारिल्ल : देव-शास्त्र-गुरु-पूजन।

अब तक अगणित जड़ द्रव्यों से, प्रभु भूख न मेरी शांति हुई।
तृष्णा की खाई खूब भरी, पर रिक्त रही वह रिक्त रही॥
युग-युग से इच्छा-सागर में, प्रभु! गोते खाता आया हूँ।
पंचेन्द्रिय मन के षट्स तज, अनुपम रस पीने आया हूँ॥

x

x

x

जग के जड़ दीपक को अब तक, समझा था मैंने उजियारा।
झँझा के एक झ़कोरे में, जो बनता घोर तिमिर कारा॥*
अत एव प्रभो! यह ज्ञान-प्रतीक, समर्पित करने आया हूँ।
तेरी अन्तर लौ से निज अन्तर दीप जलाने आया हूँ॥

डॉ. भारिल्ल की पूजनों में यह ध्वनि लगभग सर्वत्र ही सुनाई देती है।

सिद्ध पूजन के अर्घ्य के छन्द में यह बात सटीक रूप में व्यक्त हुई है :-

जल पिया और चन्दन चरचा, मालायें सुरभित सुमनों की।
पहनीं, तन्दुल सेये व्यंजन, दीपावलियाँ की रत्नों की॥
सुरभी धूपायन की फैली, शुभ कर्मों का सब फल पाया।
आकुलता फिर भी बनी रही, क्या कारण जान नहीं पाया॥
जब दृष्टि पड़ी प्रभुजी तुम पर, मुझको स्वभाव का भान हुआ।
सुख नहीं विषय-भोगों में है, तुमको लख यह सद्ज्ञान हुआ॥
जल से फल तक का वैभव यह, मैं आज त्यागने हूँ आया।
होकर निराश सब जग भर से, अब सिद्ध शरण में मैं आया॥

पूजन पढ़ते समय जब तक उसका भाव पूरी तरह ध्यान में न आये, तब तक उसमें जैसा मन लगना चाहिए, वैसा लगता नहीं है। इसके लिए आवश्यक यह है कि पूजन साहित्य सरल और सुबोध भाषा में लिखा जाये। यद्यपि प्राचीन पूजनें अपने युग की अत्यन्त सरल एवं सुबोध ही हैं, तथापि काल परिवर्तन के प्रवाह से उनकी भाषा वर्तमान युग के पाठकों को सहज ग्राह्य नहीं रही है। ऐसी स्थिति में आवश्यकता इस बात की है कि अधिक से अधिक पूजनें आज की सरल-सुबोध भाषा में भी लिखी जायें और उनका भी प्रचार-

* लेखक द्वारा उक्त छन्द में परिवर्तन कर निम्नप्रकार कर दिया गया है।

मेरे चैतन्य सदन में प्रभु! चिर व्याप भयंकर अँधियारा।

श्रुत-दीप बुझा हे करुणानिधि! बीती नहिं कछों की कारा॥

प्रसार हो; साथ ही यह भी ध्यान में रखने योग्य है कि नये और सरल-सुबोध के व्यामोह में हम अपनी पुरातन निधि को भी न बिसर जायें। आवश्यकता समुचित सन्तुलन की है। न तो हम प्राचीनता के व्यामोह में विकास को अवरुद्ध करें और न ही सरलता के व्यामोह में पुरातन को विस्मृति के गर्त में डाल दें। नई पूजनें बनाने के व्यामोह में आगम-विरुद्ध रचना न हो जाये - इसका भी ध्यान रखना अत्यावश्यक है।

प्राचीन इतिहास सुरक्षित रखने के साथ-साथ हर युग में नया इतिहास भी बनना चाहिए। कहीं ऐसा न हो कि भविष्य के लोग कहें कि इस युग में ऐसे भक्त ही नहीं थे, जो पूजनें लिखते। नवनिर्माण की दृष्टि से भी युग को समृद्ध होना चाहिए और प्राचीनता को सँजोने में भी पीछे नहीं रहना चाहिए।

प्राचीन भक्ति साहित्य में समागत कुछ कथनों पर आज बहुत नाक-भौंह सिकोड़ी जाती है। कहा जाता है कि उस पर कर्तावाद का असर है; क्योंकि उसमें भगवान को दीन-दयाल, अधम-उधारक, पतित-पावन आदि कहा गया है। भगवान से पार लगाने की प्रार्थनायें भी कम नहीं की गई हैं; पर ये सब व्यवहार के कथन हैं। व्यवहार से इसप्रकार के कथन जिनागम में भी पाये जाते हैं; पर उन्हें औपचारिक कथन ही समझना चाहिए।

मूलाचार के पाँचवें अधिकार की १३७वें गाथा में ऐसे कथनों को असत्य-मृषा भाषा के प्रभेदों में याचिनी भाषा बतलाया है। जिस भाषा के द्वारा किसी से याचना-प्रार्थना की जाती है। जो न सत्य हो और न झूठ हो ।^१ पाँचवें अधिकार की १२९वीं गाथा के अर्थ में भाषा समिति के रूप में भी यही बताया है ।^२ इससे ये कथन निर्दोष ही सिद्ध होते हैं।

उक्त सन्दर्भ में पण्डित टोडरमलजी का निम्नांकित कथन भी द्रष्टव्य है-

‘तथा उन अरहन्तों को स्वर्ग-मोक्षदाता, दीनदयाल, अधम-उधारक, पतित-पावन मानता है; उसीप्रकार यह भी कर्तृत्व बुद्धि से ईश्वर को मानता

१. मूलाचार, पृष्ठ १८९ (शास्त्रागार प्रति, शोलापुर)

२. मूलाचार, पृष्ठ १८६

है। ऐसा नहीं जानता कि फल तो अपने परिणामों का लगता है, अरहन्त तो उनको निमित्तमात्र है; इसलिए उपचार द्वारा वे विशेषण सम्भव होते हैं।

अपने परिणाम शुद्ध हुए बिना अरहन्त ही स्वर्ग-मोक्षादि के दाता नहीं हैं। तथा अरहन्तादिक के नामादिक से श्वानादिक ने स्वर्ग प्राप्त किया, वहाँ नामादिक का ही अतिशय मानते हैं; परन्तु बिना परिणाम के नाम लेनेवाले को भी स्वर्ग प्राप्ति नहीं होती, तब सुननेवाले को कैसे होगी? श्वानादिक को नाम सुनने के निमित्त से कोई मन्दकषाय रूप भाव हुए हैं, उनका फल स्वर्ग हुआ; उपचार से नाम ही की मुख्यता की है।

तथा अरहन्तादिक के नाम-पूजनादि से अनिष्ट सामग्री का नाश तथा इष्ट सामग्री की प्राप्ति मानकर रोगादि मिटाने के अर्थ व धनादिक की प्राप्ति के अर्थ नाम लेता है व पूजनादि करता है। सो इष्ट-अनिष्ट का कारण तो पूर्व कर्म का उदय है, अरहन्त तो कर्ता हैं नहीं। अरहन्तादिक की भक्ति रूप शुभोपयोग परिणामों से पूर्व पाप के संक्रमणादि हो जाते हैं, इसलिए उपचार से अनिष्ट के नाश का व इष्ट की प्राप्ति का कारण अरहन्तादिक की भक्ति कही जाती है; परन्तु जो जीव प्रथम से ही सांसारिक प्रयोजन सहित भक्ति करता है, उसके तो पाप ही का अभिप्राय हुआ कांक्षा, विचिकित्सारूप भाव हुए; उनसे पूर्वपाप के संक्रमणादि कैसे होंगे? इसलिए उसका कार्य सिद्ध नहीं हुआ।

तथा कितने ही जीव भक्ति को मुक्ति का कारण जानकर वहाँ अति अनुरागी होकर प्रवर्तते हैं। वह तो अन्यमती जैसे भक्ति से मुक्ति मानते हैं, वैसा ही इनके भी श्रद्धान हुआ; परन्तु भक्ति तो रागरूप है और राग से बन्ध है, इसलिए मोक्ष का कारण नहीं है। जब राग का उदय आता है, तब भक्ति न करें तो पापानुराग हो, इसलिए अशुभ राग छोड़ने के लिए ज्ञानी भक्ति में प्रवर्तते हैं और मोक्षमार्ग का बाह्य निमित्त मात्र भी जानते हैं; परन्तु यहाँ ही उपादेयपना मानकर संतुष्ट नहीं होते, शुद्धोपयोग के उद्यमी रहते हैं।”^१

पुजारी को पूज्य के स्वरूप का भी सच्चा परिज्ञान होना चाहिए। जिसकी पूजा की जा रही है, उसके स्वरूप की सच्ची जानकारी हुए बिना भी पूजा और पुजारियों की भावना में अनेक विकृतियाँ पनपने लगती हैं।

प्रसन्नता की बात है कि आधुनिक युग में लिखी जानेवाली पूजनों में इस बात का भी ध्यान रखा जा रहा है। पूज्यों में मुख्यतः देव-शास्त्र-गुरु ही आते हैं। आधुनिक युग में लिखी गई देव-शास्त्र-गुरु पूजनों की जयमालाओं में उनकी भक्ति करते हुए उनके स्वरूप पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

गुरु के स्वरूप पर प्रकाश डालने वाली निम्नांकित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं-

हे गुरुवर! शाश्वत सुख-दर्शक, यह नम स्वरूप तुम्हारा है।

जग की नश्वरता का सच्चा दिग्दर्शन करने वाला है॥

जब जग विषयों में रच-पच कर, गाफिल निद्रा में सोता हो।

अथवा वह शिव के निष्कंटक, पथ में विषकंटक बोता हो॥

हो अर्द्ध निशा का सन्नाटा, वन में वनचारी चरते हों।

तब शान्त निराकुल मानस तुम, तत्त्वों का चिन्तन करते हो॥

करते तप शैल नदी तट पर, तरु तल वर्षा की झड़ियों में।

समता रस पान किया करते, सुख-दुःख दोनों की घड़ियों में॥¹

दिन-रात आत्मा का चिन्तन, मूढ़ सम्भाषण में वही कथन।

निर्वस्त्र दिगम्बर काया से भी, प्रकट हो रहा अन्तर्मन॥

निर्ग्रन्थ दिगम्बर सद्ज्ञानी, स्वातम में सदा विचरते जो।

ज्ञानी ध्यानी समरस सानी, द्वादश विधि तप नित करते जो॥²

सच्चे देव के स्वरूप को समझने में हमसे क्या भूल हो जाती है और उसका क्या परिणाम निकलता है? यह बात निम्नांकित पंक्तियों में कितनी सहजता से व्यक्त हो गई है -

1. श्री जुगलकिशोर 'युगल' : देव-शास्त्र-गुरु पूजन, जयमाला।

2. वही।

करुणानिधि तुम को समझ नाथ, भगवान भरोसे पड़ा रहा ।
भरपूर सुखी कर दोगे तुम, यह सोचे सन्मुख खड़ा रहा ॥
तुम वीतराग हो लीन स्वयं में, कभी न मैंने यह जाना ।
तुम हो निरीह जग से कृत-कृत, इतना ना मैंने पहचाना ॥^१
इसीप्रकार शास्त्र के यथार्थ स्वरूप को दर्शनिवाली निम्नांकित पंक्तियाँ
भी द्रष्टव्य हैं -

महिमा है अगम जिनागम की, महिमा है..... ॥टेक ॥

जाहि सुनत जड़ भिन्न पिछानी, हम चिन्मूरति आतम की ।

रागादिक दुःख कारन जानैं, त्याग दीनि बुद्धि भ्रम की ।

ज्ञान ज्योति जाणी उर अन्तर, रुचि वाढ़ी पुनि शम-दम की ॥^२

वीतरागता की पोषक ही जिनवाणी कहलाती है ।

यह है मुक्ति का मार्ग निरन्तर जो हमको दिखलाती है ॥^३

सो स्याद्वादमय सप्तभंग, गणधर गूँथे बारह सुअंग ।

रवि-शशि न हैरे सो तम हराय, सो शास्त्र नमों बहु प्रीति लाय ॥^४

देखो, शास्त्र का स्वरूप लिखते हुए सभी कवियों ने इसी बात पर ही जोर दिया है कि जिनवाणी रूपी गंगा वह है जो - अनेकान्तमय वस्तुस्वरूप को दर्शनिवाली हो, भेदविज्ञान प्रकट करनेवाली हो, मिथ्यात्वरूप महातम का विनाश करनेवाली हो, विविध नयों की कल्लोलों से विमल हो, स्याद्वादमय व सप्तभंग से सहित हो और वीतरागता की पोषक हो । जो राग-द्रेष को बढ़ाने में निमित्त बने, वह वीतराग वाणी नहीं हो सकती ।

जिनवाणी की परीक्षा उपर्युक्त लक्षणों से ही होनी चाहिए । किसी स्थान विशेष से प्रकाशित होने से उसमें भक्ति या अभक्ति प्रकट करना या सच्चे-झूठे का निर्णय करना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं है ।

१. डॉ. हुक्मचन्द भारिल्ल : देव-शास्त्र-गुरु-पूजन, जयमाला ।

२. कविवर भागचन्दजी : जिनवाणी स्तुति ।

३. डॉ. हुक्मचन्द भारिल्ल : देव-शास्त्र-गुरु पूजन, जयमाला ।

४. कविवर द्यानतराय : देव-शास्त्र-गुरु पूजन, जयमाला ।

सिद्धचक्र-मण्डल विधान : अनुशीलन

हिन्दी पूजन-भक्ति साहित्य में एक विधा मण्डल पूजन-विधान की भी है। ये मण्डल पूजन-विधान विशेष अवसरों पर विशेष आयोजनों के साथ किये जाते हैं। इस विधा के कवि संतलाल, टेकचन्द, स्वरूपचन्द, वृन्दावन आदि हैं।

पूजा-विधानों में सिद्धचक्रविधान का सर्वाधिक महत्त्व है; क्योंकि सिद्धचक्रविधान का प्रयोजन सिद्धों के गुणों का स्मरण करते हुए अपनी आत्मा को सिद्धदशा तक पहुँचाना होता है और आत्मा के लिए इससे उत्कृष्ट अन्य उद्देश्य नहीं हो सकता।

हिन्दी विधानों में सिद्धचक्रमण्डल विधान के रचयिता कविवर संतलाल का नाम सर्वोपरि है; क्योंकि उनकी यह रचना साहित्यिक दृष्टि से तो उत्तम है ही, साथ ही भक्ति काव्य होते हुए भी आध्यात्मिक एवं तात्त्विक भावों से भरपूर है। एक-एक अर्ध्य के पद का अर्थगांभीर्य एवं विषयवस्तु विचारणीय है।

तत्त्वज्ञानपरक, जाग्रतविवेक, विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टि एवं निष्काम भक्ति की त्रिवेणी जैसी इसमें प्रवाहित हुई है, वैसी अन्यत्र दिखाई नहीं देती। निश्चय ही हिन्दी विधान-पूजा साहित्य में कविवर संतलाल का उल्लेखनीय योगदान है।

इस विधान की आठों जयमालायें एक से बढ़कर एक हैं। सभी में सिद्धों का विविध आयामों से तत्त्वज्ञानपरक गुणगान किया गया है। इनमें न तो कहीं लौकिक कामनाओं की पूर्ति विषयक चाह ही प्रकट की गई है और न प्रलोभन ही दिया गया है।

पहली जयमाला में ही सिद्धभक्ति के माध्यम से गुणस्थान क्रम में संसारी से सिद्ध बनने की सम्पूर्ण प्रक्रिया अति संक्षेप में जिस खूबी से दर्शाई गई है, वह द्रष्टव्य है :-

जय करण कृपाण सु प्रथम वार, मिथ्यात्व-सुभट कीनो प्रहार ।
दृढ़ कोट विपर्ययमति उलंघि, पायो समकित थल थिर अभंग ॥१॥
निजपर विवेक अन्तर पुनीत, आत्मरुचि वरती राजनीत ।
जगविभव विभाव असार एह, स्वातम सुखरस विपरीत देह ॥२॥
तिन नाशन लीनो दृढ़ सँभार, शुद्धोपयोग चित्त चरण सार ।
निर्ग्रन्थ कठिन मारण अनूप, हिंसादिक टारन सुलभ रूप ॥३॥
लखि मोह शत्रु परचण्ड जोर, तिस हनन शुक्ल दल ध्यान जोर ।
आनन्द वीररस हिये छाय, क्षायिक श्रेणी आरम्भ थाय ॥४॥
सांगरूपक के रूप में इसमें जीवराजा और मोहराजा के मध्य हुए घमासान
युद्ध का चित्रण किया गया है। सर्वप्रथम जीवरूप राजा अधःकरण, अपूर्वकरण
एवं अनिवृत्तिकरण गुणस्थान रूप कृपाण से मिथ्यात्व रूप सुभट पर प्रहार करता
है तथा विपरीत बुद्धिरूप ऊँचे कोट को लाँघकर सम्यग्दर्शन रूप सुखद,
समतल स्थित भूमि पर अधिकार कर लेता है और आत्मरुचि एवं स्वपर-
भेदविज्ञान की सात्त्विक राजनीति आरम्भ हो जाती है तथा आत्मस्वभाव के
विपरीत जगत के वैभव और विभावभावों के अभाव के लिए शुद्धोपयोग को
दृढ़ता से धारण करता है।

अन्त में आनन्दरूप वीर रस से उत्साहित होकर जीवराजा ने मोहरूप राजा
को सदा के लिए मृत्यु की गोद में सुला दिया और तेरहवें गुणस्थान की पावन भूमि
में प्रवेश कर अनंत आनंद का अनुभव करते हुए अपनी सनातन रीति के
अनुसार मोहराजा के उपकरणरूप शेष अघातिया कर्मों का भी अभाव करके
अनंतकाल के लिए सिद्धपुर का अखण्ड साम्राज्य प्राप्त कर लिया ।

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस पूजन में तत्त्वज्ञान तो पद-पद में दर्शनीय है
ही, भक्ति-भावना की भी कहीं कोई कमी नहीं है। तत्त्वज्ञान या अध्यात्म के
कारण भक्ति रस के प्रवाह में कहीं कोई अवरोध या व्यवधान नहीं आने पाया
है। इसप्रकार संत कवि कृत सिद्धचक्र मण्डल विधान पूजन-विधान साहित्य
में अभूतपूर्व-अद्वितीय उपलब्धि है। इसको जितने अधिक ध्यान से पढ़ा व
सुना जा सके, उतना ही अधिक लाभ होगा ।

जैनदर्शन अकर्त्तावादी दर्शन है। इसके अनुसार प्रत्येक आत्मा स्वभाव से स्वयं भगवान है और यदि जिनागम में बताये मार्ग पर चले, स्वयं को जाने, पहचाने और स्वयं में ही समा जाये तो प्रकट रूप से पर्याय में भी परमात्मा बन जाता है।

जैनदर्शन के अनुसार परमात्मा बनने की प्रक्रिया पूर्णतः स्वावलम्बन पर आधारित है। किसी की कृपा से दुःखों से मुक्ति संभव नहीं है; अतः जैनदर्शन का भक्ति साहित्य अन्य दर्शनों के समान कर्त्तावाद का पोषक नहीं हो सकता।

प्रायः देखा जाता है कि इस विधान को करनेवाले अधिकांश व्यक्ति अपने मन में व्यक्त या अव्यक्त रूप में कोई न कोई मनौती या लौकिक प्रयोजन की पूर्ति की भावना संजोये रहते हैं, जो कभी-कभी उनकी वाणी में भी व्यक्त हो जाती है।

वे कहते हैं—“जब हमारा बच्चा बीमार पड़ा था, बचने की आशा नहीं रही, डॉक्टरों ने जवाब दे दिया तो हमने भगवान से मन ही मन यह प्रार्थना की—हे प्रभु! यदि बच्चा अच्छा हो गया तो सिद्धचक्र मण्डल विधान रचायेंगे।”

“जब हमारे यहाँ आयकर वालों की रेड़ पड़ी (छापा पड़ा) और हमारा सारा सोना-चाँदी एवं जवाहरात जब्त हो गया, तब हमने यह संकल्प किया था कि— यदि माल वापस मिल गया तो.....।”

“जब गुस्से में आकर हमारे बच्चे से गोली चल जाने से किसी की मौत हो गई और उससे फौजदारी का केस दायर हो गया, तब हमने यह भावना भायी कि हे भगवान! यदि बेटा बरी हो गया, हम केस जीत गये तो हम.....।”

फिर उनमें से कोई कहेगा—“अरे भाई! सिद्धचक्र विधान में बड़ी सिद्धि है, हमारा बच्चा तो एकदम ठीक हो गया। ऑपरेशन में एक लाख रुपया लग गया तो क्या हुआ, पर भगवान की कृपा से वह बिलकुल ठीक है; अतः हमें विधान तो कराना ही है।”

दूसरा कहेगा—“हमने तो विधान में पैसा पानी की तरह बहाया, परन्तु क्या बतायें जब्त हुए माल का एक फुल्टा भी तो वापस नहीं मिला, उल्टा जुर्माना और भरना पड़ा। इसकारण अपनी तो भाई! अब पूजा-पाठ में कुछ श्रद्धा नहीं रही है।”

तीसरा कहेगा - ‘‘भाई! विधान में पैसा तो हमने भी कम खर्च नहीं किया था, परन्तु हम तो यह समझते हैं कि जब अपना भाग्य खोटा हो तो बेचारे भगवान् भी क्या कर सकते हैं? - जैसी करनी, वैसी भरनी। फिर भी भाई! हमारा तो भगवान् की दया से जो भी हुआ अच्छा ही हुआ। विधान न करते तो केस तो फाँसी का ही था, फाँसी से बच भी जाते तो जन्मभर की जेल तो होती ही, परन्तु विधान का ही प्रताप है कि तीन साल की सजा से पल्ला छूट गया। धन्य है भाई! भगवान् की महिमा....।’’

इसप्रकार जो सिद्धचक्र विधान हमें सिद्धचक्र में सम्मिलित करा सकता है, आत्मा के अनादिकालीन मिथ्यात्व, अज्ञान एवं कषायभावों के कोढ़ को कम कर सकता है, मिटा सकता है; हमने अपनी मान्यता में उसकी महिमा को मात्र शारीरिक रोग मिटाने या अपनी अत्यन्त तुच्छ-लौकिक विषय-कषाय जनित कामनाओं की पूर्ति करने तक ही सीमित कर दिया है तथा वीतराग भगवान् को पर के सुख-दुःख का कर्ता-हर्ता मानकर अपने अज्ञान व मिथ्यात्व का ही पोषण किया है।

और मजे की बात तो यह है कि - अपने इस अज्ञान के पोषण में प्रथमानुयोग की शैली में लिखी गई श्रीपाल-मैनासुन्दरी की पौराणिक कथा को निमित्त बनाया है। परमपवित्र उद्देश्य से लिखी गई उस धर्मकथा का प्रयोजन तो केवल अज्ञानी-मिथ्यादृष्टि अव्युत्पन्न जीवों की पाप प्रवृत्ति को छुड़ाकर मोक्षमार्ग में लगाने का था, जिसे हमने मिथ्यात्व की पोषक बना दिया है। इससे ज्ञात होता है कि अज्ञानी शास्त्र को शास्त्र कैसे बना लेते हैं?

क्या उपर्युक्त विचार मिथ्यात्व व अज्ञान के पोषक नहीं हैं और क्या सिद्धचक्र विधान की महिमा को कम नहीं करते? अरे! सिद्धों की आराधना का सच्चा फल तो वीतरागता की वृद्धि है; क्योंकि वे स्वयं वीतराग हैं। सिद्धों का सच्चा भक्त उनकी पूजा-भक्ति के माध्यम से किसी भी लौकिक लाभ की चाह नहीं रखता; क्योंकि लौकिक लाभ की चाह तीव्रकषाय के बिना सम्भव नहीं है और ज्ञानी भक्त को तीव्रकषाय रूप पाप भाव नहीं होता।

मैना सुन्दरी ने सिद्धचक्र विधान किया था, किन्तु पति का कोढ़ मिटाने के लिए नहीं किया था; बल्कि पति का दुःख देखकर उसे जो आकुलता होती थी, उससे बचने के लिए एवं पति का उपयोग जो बारम्बार पीड़ा चिन्तन रूप आर्तध्यानमय होता था, उससे बचाने के लिए सिद्धचक्र का पाठ किया था; क्योंकि मैना सुन्दरी तत्त्वज्ञानी तो थी ही और अगले भव में मोक्षगामी भी थी। कोटिभट राजा श्रीपाल भी तत्त्वज्ञानी व तदभव मोक्षगामी महापुरुष थे। क्या वे यह नहीं जानते थे कि वीतरागी सिद्ध भगवान् किसी का कुछ भला-बुरा नहीं करते? फिर भी अपनी आकुलता रूप पाप भाव से बचने के लिए एवं समता भाव बनाये रखने के लिए इससे बढ़कर अन्य कोई उपाय नहीं है, अतः ज्ञानीजन भी यही सब करते हैं, पर कोई लौकिक सुख की कामना नहीं करते।

आगम में भी यही कहा है कि लौकिक अनुकूलताओं के लक्ष्य से वीतराग देव-गुरु-धर्म की आराधना से भी पापबन्ध ही होता है।

मोक्षमार्गप्रकाशक में पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं -

‘पुनश्च, इस (इन्द्रियजनित सुख की प्राप्ति एवं शारीरिक दुःख के विनाश रूप) प्रयोजन के हेतु अरहन्तादिक की भक्ति करने से भी तीव्र कषाय होने के कारण पापबन्ध ही होता है, इसलिए अपने को इस प्रयोजन का अर्थी होना योग्य नहीं है।’’^१

अतः हमें वीतराग देव-गुरु-धर्म (शास्त्र) का सही स्वरूप समझकर एवं उनकी भले प्रकार से पहचान व प्रतीति करके सभी पूजन-विधान के माध्यम से एक वीतराग भावों का ही पोषण करना चाहिए। ●

**लौकिक सुख सेवा के लिए है, भोगों के लिए नहीं;
दुख विवेक के लिए है, भयातुर होने के लिए नहीं।**

नवग्रह विधान : एक संभावना यह भी

जैनधर्म में एक वीतराग देव के सिवाय और कोई भी देव-देवी अस्त्रव्य द्वारा पूज्य नहीं हैं। नवदेव और कोई नहीं, प्रकारान्तरसे वीतराग देव के ही विविध रूप हैं। अरहंत व सिद्ध तो साक्षात् वीतराग हैं ही, आचार्य उपाध्याय व साधु भी वीतरागता के ही उपासक हैं तथा स्वयं भी एकदेश वीतरागी हैं। तथा जिनधर्म, जिनवचन, जिनप्रतिमा व जिनालय भी वीतराग के ही प्रतीक हैं। उक्तं च-

“अरहंत सिद्ध साहू तिदयं जिणधम्म वयण पडिमाहू ॥

जिणणिलया इदराए, णव देवा दिंतु मे बोहि ॥”

अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, जिनधर्म, जिनवचन, जिनप्रतिमा और जिनमन्दिर - ये नवदेव मुझे रत्नत्रय की पूर्णता देवें।

उपर्युक्त नवदेवों को एक जिनप्रतिमा में ही गर्भित बताते हुए रत्नकरण्ड श्रावकाचार में पं. सदासुखदासजी कहते हैं -

“सो जहाँ अरहंतनि का प्रतिबिम्ब है, तहाँ नवरूप गर्भित जानना; क्योंकि आचार्य, उपाध्याय व साधु तो अरहंत की पूर्व अवस्थायें हैं। अर सिद्ध पहले अरहंत होकर सिद्ध हुए हैं। अरहंत की वाणी सो जिनवचन है और वाणी द्वारा प्रकाशित हुआ अर्थ (वस्तु स्वरूप) सो जिनधर्म है। तथा अरहंत का स्वरूप (प्रतिबिम्ब) जहाँ तिष्ठै, सो जिनालय है। ऐसे नवदेवतारूप भगवान अरहंत के प्रतिबिम्ब का पूजन नित्य ही करना योग्य है।”^१

नवग्रह विधान के आद्योपान्त अध्ययन से ऐसा लगता है कि इसकी रचना उन परिस्थितियों में हुई होगी, जब जैनेतर लोग ज्योतिष विद्या में अधिक विश्वास रखते थे तथा ग्रहों की चाल से ही अपने भले-बुरे भविष्य का निर्णय करते थे एवं ग्रहों के निमित्त से होनेवाले अरिष्टों (अनिष्टों) के निवारणार्थ ज्योतिषयों के निर्देशानुसार ग्रहों की शान्ति के लिए देवी-देवताओं की आराधना एवं मन्त्रों-तन्त्रों की साधना किया करते थे।

जब देखा कि जैनतरों की भाँति जैन भी जिनेन्द्रदेव की आराधना छोड़कर उन्हीं देवी-देवताओं की ओर आकर्षित होकर अपने वीतराग धर्म से विमुख होते जा रहे हैं तो कतिपय विचारकों ने धर्म वात्सल्य एवं करुण भाव से नवग्रह विधान की रचना करके यह मध्यम मार्ग निकाला होगा, जिसमें उन्होंने स्पष्ट कहा कि- ग्रह शान्ति के लिए अन्य देवी-देवताओं के द्वार खटखटाने की जरूरत नहीं है, जिनेन्द्र देव की आराधना से ही अनिष्ट का निवारण होगा । कहा भी है-

“अर्क चन्द्र कुज सौम्य गुरु, शुक्र शनिश्चर राहु ।

केतु ग्रहारिष्ट नाशने, श्री जिनपूज रचाहु ॥”^१

×

×

×

“श्री जिनवर पूजा किये, ग्रह अनिष्ट मिट जाय ।

पंच ज्योतिषी देव सब, मिलि सेवे प्रभु पाय ॥”^२

यद्यपि सभी धर्मों में निष्काम भक्ति ही उत्कृष्ट मानी गई है, तथापि इसप्रकार की पूजा बनाने का मुख्य प्रयोजन यह था कि पूजक पहले देवी-देवताओं की पूजा छोड़कर जिनपूजा करना आरम्भ करे, जिससे गृहीत मिथ्यात्व से बच सके । तदर्थ यह बताना जरूरी था कि जिस फल की प्राप्ति के लिए तुम देवी-देवताओं को पूजते हो, वही सब फल जिनपूजा से प्राप्त हो जायेगा ; अन्यथा वे उस गलत मार्ग को छोड़कर जिनमार्ग में नहीं आते । जिनेन्द्र पूजा से लौकिक फलों की पूर्ति की बात सर्वथा असत्यार्थ भी तो नहीं है ; क्योंकि मन्दकषाय होने से जो सहज पुण्यबंध होता है, उससे सभी प्रकार की लौकिक अनुकूलतायें भी प्राप्त तो हो ही जाती हैं ? तथापि कामना के साथ की गई पूजा-भक्ति निष्काम भक्ति की तुलना में हीन तो है ही – इस ध्रुव सत्य से भी इनकार नहीं किया जा सकता ।

कुछ लोग तो ग्रहों की शान्ति हेतु ग्रहों की भी पूजा करने लगे थे, उनकी दृष्टि से उपर्युक्त दूसरे दोहे में बताया गया है कि नवग्रहों की पूजा करना योग्य

१. नवग्रह विधान : प्रथम समुच्चय पूजा की स्थापना का दोहा ।

२. नवग्रह विधान : प्रथम पूजा की जयमाला का प्रथम दोहा ।

नहीं है; क्योंकि नवग्रहों के रूप में जो ये ज्योतिषीदेव हैं, वे स्वयं भी सब मिलकर जिनेन्द्र के चरणों की सेवा करते हैं।

नवग्रह विधान में इन्हीं उपर्युक्त नवदेवताओं की पूजन की जाती है, नवग्रहों की नहीं। जहाँ तक नवग्रहों की शान्ति का सवाल है, सो वह तो अपने पुण्य-पाप के आधीन है, किन्तु इतना अवश्य है कि वीतराग देव की निष्कामभक्ति करने से सहज ही पापकर्म क्षीण होते हैं और पुण्यकर्म बँधता है, इससे बाह्य अनुकूलता भी सहज ही प्राप्त हो जाती है। इस संबंध में पाण्डित टोडरमलजी का निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है :-

‘यहाँ कोई कहे कि- जिससे इन्द्रियजनित सुख उत्पन्न हो तथा दुःख का विनाश हो- ऐसे भी प्रयोजन की सिद्धि इनके द्वारा होती है या नहीं? उसका समाधान :- जो अरहंतादि के प्रति स्तवनादि रूप विशुद्ध परिणाम होते हैं, उनसे अघातिया कर्मों की साता आदि पुण्य प्रकृतियों का बन्ध होता है और यदि वे (भक्ति-स्तवनादि) के परिणाम तीव्र हों तो पूर्वकाल में जो असाता आदि पाप-प्रकृतियों का बन्ध हुआ था, उन्हें भी मन्द करता है अथवा नष्ट करके पुण्यप्रकृतिरूप परिणमित करता है और पुण्य का उदय होने पर स्वयमेव इन्द्रियसुख की कारणभूत सामग्री प्राप्त होती है। तथा पाप का उदय दूर होने पर स्वयमेव दुःख की कारणभूत सामग्री दूर हो जाती है। इसप्रकार इस प्रयोजन की भी सिद्धि उनके द्वारा होती है। अथवा जो जिनशासन के भक्त देवादिक हैं, वे उस पुरुष को अनेक इन्द्रिय सुख की कारणभूत सामग्रियों का संयोग कराते हैं और दुःख की कारणभूत सामग्रियों को दूर करते हैं- इसप्रकार भी इस प्रयोजन की सिद्धि उन अरहंतादिक द्वारा होती है, परन्तु इस प्रयोजन से कुछ भी अपना हित नहीं होता, क्योंकि यह आत्मा कषाय भावों से बाह्य सामग्रियों में इष्ट-अनिष्टपना मानकर स्वयं ही सुख-दुःख की कल्पना करता है। कषाय बिना बाह्य सामग्री कुछ सुख-दुःख की दाता नहीं है। इसलिए इन्द्रियजनित सुख की इच्छा करना और दुःख से डरना- यह भ्रम है।’’^१

आरती का अर्थ

‘पूजन’ शब्द की भाँति ही ‘आरती’ शब्द का अर्थ भी आज बहुत संकुचित हो गया है। आरती को आज एक क्रिया विशेष से जोड़ दिया गया है, जबकि आरती पंचपरमेष्ठी के गुणगान को कहते हैं। जिनदेव का गुणगान करना ही जिनेन्द्रदेव की वास्तविक आरती है।

पूजन साहित्य में ‘आरती’ शब्द जहाँ-जहाँ भी आया है, सभी जगह उसका अर्थ गुणगान करना ही है। इस संदर्भ में कुछ महत्वपूर्ण उद्धरण द्रष्टव्य हैं :-

देव-शास्त्र-गुरु रतन शुभ, तीन रतन करतार ।

भिन्न-भिन्न कहुँ आरती, अल्प सुगुण विस्तार ॥^१

देखिए! इस पद्य में देव-शास्त्र-गुरु को तीन रत्न कहा गया है तथा इन तीनों रत्नों को क्रमशः सम्यग्दर्शन, सम्यज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप तीनों रत्नों का कर्ता (निमित्त) कहा गया है। तथा ‘भिन्न-भिन्न कहुँ आरती’ कहकर तीनों का भिन्न-भिन्न गुणानुवाद करने का संकल्प किया गया है।

इसीप्रकार पंचमेरु पूजा, गुरु पूजा, दशलक्षणधर्म पूजा, क्षमावाणी पूजा, सिद्धचक्रमण्डल विधान आदि के निम्नांकित पदों से भी ‘आरती’ का अर्थ गुण-गान करना ही सिद्ध होता है।

पंचमेरु की ‘आरती’, पढ़ै सुनै जो कोय ।

‘द्यानत’ फल जानै प्रभु, तुरत महासुख होय ॥^२

तीन घाटि नव कोड़ि सब, बन्दों शीश नवाय ।

गुण तिन अद्वाईस लों, कहुँ ‘आरती’ गाय ॥^३

दशलक्षण बन्दौ सदा, मनवांछित फलदाय ।

कहों ‘आरती’ भारती, हम पर होहु सहाय ॥^४

उनतिस^५ अंग की ‘आरती’, सुनो भविक चित लाय ।

मन-वच-तन सरधा करो, उत्तम नरभव पाय ॥^६

१. देव-शास्त्र-गुरु पूजन : कविवर द्यानतराय, जयमाला ।

२. पंचमेरु पूजन (जयमाला का अन्तिम छन्द) : कविवर द्यानतराय ।

३. गुरु पूजन : कविवर द्यानतराय, जयमाला का प्रथम छन्द ।

४. दशलक्षण धर्म पूजा : जयमाला का प्रथम छन्द ।

५. सम्यग्दर्शन के ८, सम्यज्ञान के ८ व सम्यक्चारित्र के १३ : कुल २९ अंग हुए ।

६. कविवर मल्ल, क्षमावाणी पूजन : जयमाला का प्रथम छन्द ।

यह क्षमावाणी 'आरती', पढ़ै-सुनै जो कोय ।
 कहै 'मल्ल' सरधा करो, मुक्ति श्रीफल होय ॥^१
 जग आरत भारत महा, गारत करि जय पाय ।
 विजय 'आरती' तिन कहूँ, पुरुषारथ गुण गाय ॥^२
 मंगलमय तुम हो सदा, श्री सन्मति सुखदाय ।
 चाँदनपुर महावीर की, कहूँ 'आरती' गाय ॥^३

इसप्रकार पूजन साहित्य में आये उपर्युक्त कथनों से स्पष्ट है कि 'आरती' शब्द का अर्थ केवल स्तुति (गुणगान) करना है, अन्य कुछ नहीं । तथा उक्त सभी कथनों में - 'आरती' को पढ़ने, सुनने या कहने की ही बात कही गई है, इससे भी यही सिद्ध होता है कि 'आरती' पढ़ने, सुनने या कहने की ही वस्तु है, क्रियारूप में कुछ करने की वस्तु नहीं ।

वैसे तो दीपक से आरती का दूर का भी सम्बन्ध नहीं है, परन्तु प्राचीनकाल में जिनालयों में न तो कोई बड़ी खिड़कियाँ होती थीं और न ऐसे रोशनदान ही, जिनसे पर्याप्त प्रकाश अन्दर आ सके । दरवाजे भी बहुत छोटे बनते थे तथा बिजली तो थी ही नहीं । इसकारण उन दिनों प्रकाश के लिए जिनालयों में दिन में भी दीपक जलाना अति आवश्यक था । तथा भले प्रकार दर्शन के लिए दीपक को हाथ में लेकर प्रतिमा के अंगोपांगों के निकट ले जाना भी जरूरी था क्योंकि दूर रखे दीपक के टिमटिमाते प्रकाश में प्रतिमा के दर्शन होना संभव नहीं था ।

किन्तु आज जब जिनालयों में प्रकाश की पर्याप्त व्यवस्था है तो फिर दीपक की आवश्यकता नहीं रह जाती, तथापि या तो हमारी पुरानी आदत के कारण या फिर अनभिज्ञता के कारण आज अनावश्यक रूप से अखण्ड दीप जल रहा है तथा आरती का भी दीपक अभिन्न अंग बन बैठा है - इस कारण अब बिना दीपक के आरती आरती-सी ही नहीं लगती ।

अतः आज के संदर्भ में दीपक व आरती का यथार्थ अभिप्राय व प्रयोजन जानकर प्रचलित प्रथा को सही दिशा देने का प्रयास करना चाहिए ।

-
१. कविवर मल्ल, क्षमावाणी पूजन : जयमाला का अन्तिम छन्द ।
 २. संत कवि : सिद्धचक्र विधान : प्रथम पूजन, जयमाला ।
 ३. चाँदनपुर महावीर पूजन : कवि पूर्नमल जैन ।

स्तुति (स्तोत्र) साहित्य

जैनदर्शन में विशाल पूजन साहित्य है, परन्तु उतना प्राचीन नहीं; जितना प्राचीन स्तुति साहित्य है। आचार्य समन्तभद्र के स्तोत्र जैनदर्शन के आद्य भक्ति साहित्य में गिने जा सकते हैं।

वर्तमान में सम्पूर्ण स्तोत्र साहित्य में भक्तामर स्तोत्र सर्वाधिक प्रचलित स्तोत्र है। लाखों लोग इस स्तोत्र द्वारा प्रतिदिन परमात्मा की आराधना करते हैं। सहस्रों मातायें-बहिनें तो ऐसी भी है, जो इस स्तोत्र का पाठ किये या सुने बिना जल तक ग्रहण नहीं करती हैं।

यद्यपि जिनेन्द्र भक्ति का स्तोत्र साहित्य भी एक सशक्त माध्यम रहा है, किन्तु कालान्तर में उक्त स्तोत्र के साथ कुछ ऐसी कल्पित कथायें जुड़ गयी हैं, जिससे भ्रमित होकर भक्त लोगों ने इसको लौकिक कामनाओं की पूर्ति से जोड़ लिया है। स्व. पण्डित मिलापचन्द कटारिया ने अपने शोधपूर्ण लेख में लिखा है-

“इस सरल और वीतराग स्तोत्र को भी मन्त्र-तन्त्रादि और कथाओं के जाल से गूँथकर जटिल व सराग बना दिया है। इसके निर्माण के सम्बन्ध में भी मनगढ़न्त कथायें रच डाली हैं।”^१

मुनि श्री मानतुंगाचार्य द्वारा यह केवल भक्तिभाव से प्रेरित होकर निष्काम भावना से रचा गया भक्तिकाव्य है। इसमें कर्म बन्धन से मुक्त होकर संसारचक्र से छूटने के सिवाय कहीं कोई ऐसा संकेत भी नहीं है, जिसमें भक्त ने भगवान से कुछ लौकिक कामना की हो।

जहाँ भय व रोग निवारण की परोक्ष चर्चा आई है, वह कामना के रूप में नहीं है; बल्कि वहाँ तो यह कहा है कि परमात्मा की शरण में रहनेवालों को जब विषय-कषायरूप काम नागों का भी विष नहीं चढ़ता तो उसके सामने बेचारे सर्पादि जन्तुओं की क्या कथा? जब आत्मा का अनादिकालीन मिथ्यात्व का महारोग मिट जाता है तो तुच्छ जलोदरादि दैहिक रोगों की क्या बात करें?

१. जैन निबन्ध रत्नावली, पृष्ठ ३३७; वीरशासन संघ, कलकत्ता।

ज्ञानी धर्मात्मा की भक्ति में लौकिक स्वार्थसिद्धि की गन्ध नहीं होती, कंचन-कामिनी की कामना नहीं होती, यश की अभिलाषा नहीं होती और भीरुता भी नहीं होती ।

भय, आशा, स्नेह व लोभ से या लौकिक कार्यों की पूर्ति के लिए की गई भक्ति तो अप्रशस्तरूप राग होने से पापभाव ही है, उसका नाम भक्ति नहीं है ।

जब अनेक संस्कृतियाँ मिलती हैं, तब उनका एक-दूसरे पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता । जैन पूजन साहित्य पर भी अन्य भारतीय भक्ति साहित्य का प्रभाव देखा जा सकता है, परन्तु जितने भी कर्तृत्वमूलक कथन हैं, उन सभी को अन्य दर्शनों की छाप कहना उचित प्रतीत नहीं होता ; क्योंकि जैनदर्शन में व्यवहारनय से उक्त सम्पूर्ण कथन संभव है, परन्तु उसकी मर्यादा औपचारिक ही है ।

अतः जिनभक्तों का यह मूल कर्तव्य है कि वे जिनभक्ति के स्वरूप को पहचानें, भक्ति साहित्य में समागत कथनों के वजन को जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में समझें । औपचारिक कथनों एवं वास्तविक कथनों के भेदों को अच्छी तरह पहचानें; सभी को एक समान सत्य स्वीकार करना उचित नहीं है ।

पूजन साहित्य मात्र पढ़ लेने या बोल लेने की वस्तु नहीं है, उसका अध्ययन किया जाना आवश्यक है ।

जैन पूजन और भक्ति साहित्य इतना विशाल है कि उस पर अनेक दृष्टियों से स्वतंत्र रूप से अनुशीलन अपेक्षित है । विविध दृष्टिकोण से उसे वर्गीकृत कर यदि उसकी मीमांसा और समीक्षा की जाये तो एक विशाल ग्रन्थ का निर्माण सहज ही हो सकता है । लगता है कि अभी विद्वानों का ध्यान इस ओर नहीं गया है । पूजन साहित्य पर समीक्षात्मक शोध-खोज की महती आवश्यकता है ।

मैंने तो यह अल्प प्रयास किया है । यदि शोधी-खोजी विद्वानों का ध्यान इस ओर गया और साधारण पाठकों को इससे अल्प लाभ भी मिला तो मैं अपने श्रम को सार्थक समझूँगा ।